महाकविभल्लटकृतम्

भल्लटशतकम्

वेदकुमारी घई
राम प्रताप

मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशन्स
नई दिल्ली

काश्मीरककविभल्लटकृतं

भल्लटशतक

[माहेश्वरी संस्कृत टीका एवं हिन्दी अनुवाद सहित
आलोचनात्मक संस्करण]

डा० वेदकुमारी घई
डा० रामप्रताप
संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय

सर्वविक्रयाधिकारी
मेहरचन्द लछमनदास
नई दिल्ली-११० ००२

प्रकाशक :
मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशन्स
1, दरियागंज, नई दिल्ली-110 002

प्रथम संस्करण
1985
पुनर्मुद्रण
1987, 1991

मुद्रक : एफीशिएण्ट आफ़सैट, नई दिल्ली

FOREWORD

Kashmir has been a cradle of Indian culture and civilization since very early times. This beautiful valley is renowned not only for its natural beauty but also for its poetry, philosophy and other intellectual achievements.

This book containing about 100 verses of the Kashmiri poet Bhallaṭa has been critically edited and translated in Hindi and English by Dr. Ved Kumari Ghai and Dr. Ram Pratap of Jammu University. The value of this edition is enhanced with the inclusion of an old Sanskrit commentary from the pen of a south Indian writer, Maheśvara, which has been published for the first time. It is a relieving feature of Sanskrit studies that these get equal response from all parts of India and are thus an important factor for national integration.

The verses of this Śataka are full of satire and suggestion and give a clear picture of real life. This type of poetry has its eternal value and is relevant even today. Thus this literary composition is a welcome addition to the Sanskrit literature. I hope the scholars and students of Sanskrit language will find the book interesting and useful.

Jammu Tawi
November 14, 1984

M. R. PURI

कृतज्ञता ज्ञापन

जम्मू विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो० मनसाराम पुरी के प्रति हम हार्दिक आभार प्रकट करते हैं जिन्होंने इस पुस्तक का प्राक्कथन लिखकर हमें उत्साहित किया है।

श्री एस० भास्करन् नायर, डाइरेक्टर, विश्वेश्वरानन्द विश्वबन्धु वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर ने भल्लटशतक के मलयालम लिपि में लिखे हस्तलेख को उपलब्ध करा कर तथा पढ़ कर हमारी सहायता की है, एतदर्थ हम उनका हृदय से धन्यवाद करते हैं। जम्मू विश्वविद्यालय के केन्द्रीय पुस्तकालय, मद्रास की गवर्नमेन्ट ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी तथा अडियार की अडियार लाइब्रेरी के अधिकारियों को हस्तलेख प्रदान करने के लिए धन्यवाद देते हैं। इस पुस्तक की प्रैस कापी तैयार करने में हमारे शिष्य डा० केदारनाथ, डा० भारतभूषण तथा श्री प्रशान्तकुमार आचार्य का सराहनीय योगदान रहा है। वे हमारे आशीर्वाद के पात्र हैं।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए आर्थिक सहायता प्रदान कराने तथा अन्य प्रकार का सहयोग देने के लिए जम्मू विश्वविद्यालय के कुलसचिव, श्री केवलकृष्ण गुप्ता तथा सहायक कुलसचिव, श्री वाचस्पति शर्मा के प्रति भी हम अपना आभार प्रकट करते हैं। इसकी छपाई तथा साजसज्जा में मैसर्स मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशन्स के अधिपति ने विशेष परिश्रम किया है। इसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं।

जम्मू तवी
१६ नवम्बर, १९८४

वेदकुमारी घई
रामप्रताप

विषय सूची

सम्पादकीय

१. संस्कृत कविता को कश्मीर का योगदान

संस्कृत कविता तथा काव्यशास्त्र की विभिन्न विधाओं के प्रणयन में कश्मीर के कवियों तथा काव्यशास्त्रियों का महान् योगदान रहा है। सहज प्रतिभा के धनी इन महाकवियों ने मुक्तककाव्य, महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीतिकाव्य, ऐतिहासिक काव्य, धार्मिक काव्य तथा नीतिकाव्यादि सभी प्रकार के काव्यों की रचना की है। यदि भल्लट, कल्हण, बिल्हण, शम्भु, जोनराज तथा श्रीवर आदि कश्मीरी कवियों की रचनाओं को संस्कृत साहित्य में से निकाल दिया जाये तो गुण और परिमाण में बहुत थोड़ा साहित्य संस्कृत भाषा के पास रह जायेगा। साहित्यशास्त्र के रस, अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि एवं औचित्य जैसे विभिन्न सम्प्रदाय कश्मीर की घाटी में उपजे और पनपे हैं। यह बात दूसरी है कि भरत, दण्डी, विश्वनाथ, विश्वनाथदेव एवं पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्य कश्मीरेतर हैं। परन्तु इन आचार्यों की संख्या अल्प ही है। वस्तुतः भामह, वामन, उद्भट, रुद्रट, आनन्दवर्धन, महिमभट्ट, अभिनवगुप्त, मम्मट और क्षेमेन्द्र आदि कश्मीरी आचार्यों की कृतियों के बिना प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र अस्तित्वहीन सा हो जायेगा। वितस्ता नदी तथा डल झील के इस हरे भरे प्रदेश में पुरातन काल से ही दर्शन, काव्य तथा समालोचना सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे जाते रहे हैं जिनसे कश्मीर की गरिमा भारत की सीमाओं को भी लांघकर दूर दूर तक जा पहुंची है। यह शास्त्रीय ज्ञान तथा ग्रन्थरचना की परम्परा आज भी विद्यमान है। परन्तु इस दिशा में उल्लेखनीय परिणाम प्राप्त करने के लिए विशेष योजना, कड़ी तपस्या और घोर साधना की आवश्यकता है। हस्तलिखित ग्रन्थों के प्रकाशन, प्रकाशित ग्रन्थों के अनुवाद तथा समालोचना एवं नई मौलिक कृतियों से यह उज्ज्वल परम्परा जीवित रह सकेगी। प्रस्तुत संस्करण इस दिशा में एक विनम्र प्रयास है।

२. मुक्तक का लक्षण

शब्दकल्पद्रुम में मुक्तक की व्युत्पत्ति इस प्रकार दिखलाई गई है— मुक्तकं क्ली० (मुच्यते स्मेति। मुच्+क्त संज्ञायां कन्) काव्यविशेषः।[1] इस व्युत्पत्ति

---

1. राजा राधाकान्तदेवविरचित **शब्दकल्पद्रुम**, तृतीय काण्ड, सं० ७२६ (दिल्ली, १९६१)

के अनुसार मुक्तक शब्द का प्रयोग नपुंसक लिङ्ग में होता है तथा यह काव्य-विशेष का वाचक है। यह स्वयं मुक्त होता है अर्थात् एक मुक्तक का दूसरे से सम्बन्ध नहीं होता है। *अग्निपुराण* में इस मुक्तक का प्रमुख वैशिष्ट्य चमत्कार को उत्पन्न करना बताया है—

मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम् ।[1]

सहृदयों के लिए चमत्कार उत्पन्न करने में समर्थ एक ही श्लोक मुक्तक होता है। किन्तु यह चमत्कृति किन किन बातों पर निर्भर रहती है इसकी चर्चा पुराणकार ने नहीं की। केवल 'श्लोक एवैकः' कहकर मुक्तक को अनन्यापेक्षी स्वीकार किया गया है। इसे कथावस्तु, रस, गुण, चमत्कार आदि के लिए अपने पैरों पर खड़ा होना पड़ता है। *काव्यादर्श* में दण्डी ने मुक्तक का प्रतिपादन करते हुए बताया है कि मुक्तक महाकाव्य के अन्तर्गत ही आ जाता है—

मुक्तकं कुलकं कोषः सङ्घात इति तादृशः ।
सर्गबन्धाङ्गरूपत्वादनुक्तः पद्यविस्तरः ।।[2]

मुक्तक, कुलक, कोष और सङ्घात भेद सर्गबन्ध (महाकाव्य) के अङ्गमात्र हैं। इसलिए यहाँ इन पद्यरूपों का विस्तार नहीं किया गया है। 'मुक्तकं पद्यान्तरमुक्तं श्लोकान्तरनिरपेक्षम् एकमेव पद्यम्'[3] अर्थात् मुक्तक अन्य पद्य से मुक्त (निरपेक्ष या स्वतन्त्र) होता है। एक ही पद्य जब वाक्य और वर्ण्य वस्तु की दृष्टि से पूर्ण हो अर्थात् वाक्यान्वय और विषय की पूर्णता की दृष्टि से अन्य पद्य की अपेक्षा न रखता हो तो वह मुक्तक कहलाता है। *अमरुशतक* और *भल्लटशतक* के अलग अलग श्लोक मुक्तक के उदाहरण हैं। कुलक वाक्यान्वय की दृष्टि से परस्परसम्बद्ध श्लोकसमूह का नाम है। सामान्यतः पाँच श्लोकों के वर्ग को कुलक कहा जाता है। मुक्तक पद्यों के विषयानुसार संग्रह का नाम कोष है। जैसे *आर्यासप्तशती* और *सुभाषितावली* आदि। परिमित कथावस्तु से युक्त एवं एक ही छन्द में ग्रथित *मेघदूत* आदि प्रबन्धात्मक रचनायें सङ्घात कहलाती हैं।

साहित्यदर्पण के अनुसार भी मुक्तक छन्दोबद्ध स्वतन्त्र पद्य होता है—

छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम् ।[4]

---

1. अग्निपुराण, ३३७, २३-२४
2. काव्यादर्श, १,१३
3. वही १, १३ वृत्तिभाग
4. साहित्यदर्पण, ६,३१४

छन्द से निबद्ध एकाकी और दूसरे श्लोक की अपेक्षा न रखने वाले पद्य को मुक्तक कहते हैं। मुक्तक के लिए छन्दोबद्ध या वृत्तगन्धि होना अनिवार्य धर्म है।[1]

आर्यासप्तशती और *गाथासप्तशती* की आर्यायें और गाथायें भी मुक्तकों का एक रूप हैं। इनको जब अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है तो ये अन्यापदेश मुक्तक कहलाते हैं। अप्रस्तुतप्रशंसा वह अर्थालङ्कार है जहाँ किसी अप्रस्तुत वाच्य के कथन से प्रस्तुत व्यङ्ग्य का बोध कराया जाता है। इसके पाँच भेद हैं—

१. अप्रस्तुत वाच्य कारण से प्रस्तुत व्यङ्ग्य कार्य का उपस्थापन।

२. अप्रस्तुत वाच्य कार्य से प्रस्तुत व्यङ्ग्य कारण का उपस्थापन।

३. अप्रस्तुत वाच्य सामान्य से प्रस्तुत व्यङ्ग्य विशेष का उपस्थापन।

४. अप्रस्तुत वाच्य विशेष से प्रस्तुत व्यङ्ग्य सामान्य का उपस्थापन।

५. सादृश्य के आधार पर अप्रस्तुत वाच्य से प्रस्तुत व्यङ्ग्य का उपस्थापन।

यह अन्तिम समात्समा अर्थात् समान गुण से समान गुण का बोध कराने वाली अप्रस्तुतप्रशंसा कभी श्लेष से होती है तो कभी बिना श्लेष के। चमत्कारपूर्ण अन्यापदेश मुक्तकों का यही अप्रस्तुतप्रशंसा मूल आधार है। समय बीतने पर आगे जाकर हिन्दी साहित्य में प्रचलित अन्योक्ति, सतसई, दोहा और सोरठा इसी मुक्तक की परम्परा में आते हैं। उर्दू के शेर और फ़ारसी की रुबाई भी मुक्तक की शैली कही जा सकती है। हिन्दी में *बिहारी-सतसई*, *गुञ्जन* और *दीपशिखा* इसी शैली पर लिखे काव्य हैं। *बिहारीसतसई* की प्रशंसा में यह उक्ति प्रचलित है—

सतसैया के दोहरा ज्यों नावक के तीर।
देखत में छोटे लगें घाव करें गम्भीर॥

नावक के तीर से अभिप्राय है वह छोटी नली में रखे हुए पाँच दस बाण जो इकट्ठे लक्ष्य पर चलाये जाते हैं।

---

1. वृत्तगन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च। —साहित्यदर्पण, ६,२६५

३. मुक्तक का स्वरूप एवं भेद

प्रबन्धकाव्य (महाकाव्य) और मुक्तककाव्य में स्वरूपभेद है। प्रबन्धकाव्य के रसास्वादन में कथावस्तु की गति तथा पात्रों के चरित्र का विकास भी सहायक होता है। पात्रों के विषय में बने तत्तत्संस्कार उन पात्रों की उक्तियों को बोधगम्य बनाते हैं तथा रसानुभूति के सम्पादन में सहायता देते हैं। कथावस्तु की कौतुकपूर्ण रमणीयता भी पाठक के हृदय को आकर्षित करती है और आगे के घटनाक्रम को जानने की उत्सुकता उसे शीघ्रातिशीघ्र आगे बढ़ने को प्रेरित करती है। इस उत्सुकता के कारण प्रबन्धकाव्य के अनेक नीरस पद्यों की ओर पाठक का ध्यान नहीं जाता और वहाँ काव्य के गुण दोषों की अनुभूति सामूहिक रूप से होती है। दस बीस सरस पद्यों के बीच दो चार नीरस पद्य भी खप जाते हैं परन्तु मुक्तककाव्य में पाठक को प्रत्येक पद्य के गुण दोष स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं क्योंकि आनन्दानुभूति के लिए कुछ समय तक उसका हृदय केवल एक पद्यविशेष पर ही टिका रहता है। वहाँ न तो पात्रों के विषय में पाठक के बने हुए संस्कार ज़्यादा काम करते हैं और न ही पूर्व घटनाक्रम से समुत्पादित उसकी भावी घटनाओं की ओर उन्मुखता होती है। इसीलिए मुक्तककाव्य का चमत्कारक्षम होना आवश्यक माना गया है। समय समय के अनुसार इस चमत्कृति तथा रमणीयता की परिभाषा चाहे बदलती रही हो परन्तु मुक्तक में तत्तत्समयानुसार उस रमणीयता के प्रतिपादक सभी उपकरणों की उपस्थिति अपेक्षित समझी जाती रही है। जब कोई मुक्तक ब्रह्मानन्द सहोदर रस द्वारा पाठक के हृदय को आनन्दमग्न करके उसे अन्य विषयों से विरत करा देता है तभी वह सफल मुक्तक कहा जा सकता है। आनन्दवर्धन ने अमरुक के मुक्तक पद्यों की प्रशंसा करते हुए एक एक मुक्तक को प्रबन्धकाव्य के समकक्ष रख दिया है—

मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृङ्गाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव।[1]

प्रबन्धकाव्यों के समान मुक्तकों में भी रस में आग्रह रखने वाले कवि पाये जाते हैं जैसे अमरुक कवि के शृङ्गार रस को प्रवाहित करने वाले प्रबन्ध काव्य सदृश (विभावादि से परिपूर्ण) मुक्तक प्रसिद्ध ही हैं। कश्मीरी महाकवियों द्वारा लिखे गये इन मुक्तकों के अनेक भेद हैं। इनमें अन्यापदेश या

---

1. ध्वन्यालोक, ३, ७ वृत्तिभाग

अन्योक्ति प्रधान मुक्तकों का प्रमुख स्थान है। इनके अतिरिक्त शृङ्गार, नीति, भक्ति, वैराग्य, उपदेश आदि विषयभेद से मुक्तकभेद देखे जाते हैं। कविता यदि जीवन की आलोचना है तो अन्यापदेश मुक्तक अवश्य इस कसौटी पर खरे उतरते हैं क्योंकि इनमें कविहृदय की वे गहरी अनुभूतियाँ प्रकट होती हैं जिन्हें वह अभिधा से नहीं कह पाता है। व्यङ्ग्योक्तियों का सहारा लेकर कवि लता, पुष्प आदि के माध्यम से मानव जीवन के मार्मिक सत्यों का प्रकाशन हृदय और मस्तिष्क दोनों पर गहरी चोट करता है। इस शैली पर सर्वप्रथम लिखा गया शतक कश्मीर के कवि भल्लट का *भल्लटशतक* है। इसके कुछ ही पद्य अन्योक्ति शैली से बाहर हैं। शम्भु की *अन्योक्तिमुक्तालता* भी इसी श्रेणी में आती है। आनन्दवर्धन का *देवीशतक*, अवतार का *ईश्वरशतक*, लोष्ठक का *दीनाक्रन्दनस्तोत्र* और कल्हण का *अर्धनारीश्वर* भक्तिपरक मुक्तक काव्य हैं। क्षेमेन्द्र के *चतुर्वर्गसङ्ग्रह* और *चारुचर्या* उपदेशात्मक हैं। शिल्हण का *शान्तिशतक* वैराग्यपरक है। मुक्तककोष-ग्रन्थों में कश्मीर के जल्हण की *सूक्तिमुक्तावली*, वल्लभदेव की *सुभाषितावली* तथा श्रीवर की *सुभाषितावली* प्रसिद्ध हैं। इन सङ्ग्रहों में बहुत से संस्कृत कवि कश्मीर के हैं परन्तु दौर्भाग्य से उनकी समूची रचनायें उपलब्ध नहीं होतीं। सुभाषित सङ्ग्रहों में बिखरे पद्यों से ही उनके विषय में अनुमान लगाया जा सकता है।

४. भल्लट का जीवन तथा समय

आनन्दवर्धन (सन् ८५०-६०० ई०) ने अपने ग्रन्थ *ध्वन्यालोक* में बिना नाम दिये *भल्लटशतक* के 'परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरः'[1] इस मुक्तक को लिया है। इससे प्रतीत होता है कि भल्लट आनन्दवर्धन के समकालीन युवा कवि थे जिनकी रचनाओं से जनता को परिचित जानकर आनन्दवर्धन ने नाम देने की आवश्यकता नहीं समझी। कल्हण ने *राजतरङ्गिणी* में कश्मीर के राजा शङ्करवर्मा के समय का वर्णन करते हुए भल्लट का उल्लेख किया है। गुणियों के सङ्ग से विमुख रहने वाले उस राजा के राज्य में भल्लट जैसे कवियों को बड़ा कष्टमय जीवन बिताना पड़ रहा था। एक ओर बड़े बड़े कवि वेतन रहित रहकर जीवन का भार ढो रहे थे, दूसरी ओर बोझा उठाने वाला जडबुद्धि लवट दो हजार दीनार वेतन के रूप में पा रहा था। उसने अपने को नीच कुल में उत्पन्न होने वाला प्रमाणित कर दिया था। उसने संस्कृत भाषा

1. भल्लटशतक, ५३; ध्वन्यालोक, ३,४१ वृत्तिभाग

को गाली देना प्रारम्भ कर दिया था।[1] शङ्करवर्मा का राज्यकाल ८८३ ई० से ९०२ ई० तक था। अतः भल्लट का समय ९वीं शताब्दी का उत्तरार्ध तथा दसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जा सकता है। सम्भवतः भल्लट ने शङ्करवर्मा के पिता अवन्तिवर्मा का वह राज्यकाल भी देखा था जिसमें मुक्ताकण, शिवस्वामी, आनन्दवर्धन तथा रत्नाकर जैसे महाकवियों को सम्मान प्राप्त हुआ था।[2] रत्नाकर, शिवस्वामी तथा आनन्दवर्धन जैसे प्रौढ़ महाकवियों के मुकाबले में भल्लट तब तक शायद विशेष प्रसिद्धि नहीं पा सके होंगे। तभी कल्हण ने इन नामों के साथ भल्लट को नहीं रखा।

५. *भल्लटशतक* की व्यङ्ग्योक्तियाँ

भल्लट ने *भल्लटशतक* में अन्यापदेश अथवा अन्योक्ति का आधार लेकर तत्कालीन समाज के उच्च वर्ग के अयोग्य व्यक्तियों के ऊपर फब्तियां कसी हैं। इन उक्तियों में कथन का विषय जडपदार्थ एवं पशु, पक्षी आदि प्राणी रहते हैं। परन्तु जो बात इन पदार्थों तथा प्राणियों पर घट रही होती है वही बात इनके अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों पर भी चरितार्थ होती है। भल्लट की इन उक्तियों में कविहृदय की मार्मिक पीड़ा तथा तत्कालीन समाज के प्रति तीव्र प्रतिक्रियापूर्ण मनःस्थिति दिखाई पड़ती है। इन में से कतिपय व्यङ्ग्योक्तियाँ यहाँ दिखाई जा रही हैं।

मान्धाता जैसे उदारहृदय अवन्तिवर्मा के राज्यकाल की सुखसुविधाओं से परिचित भल्लट ने जब शङ्करवर्मा के राज्य में विद्वानों की उपेक्षा और जनता का शोषण देखा तो उनका पीड़ित कविहृदय सूर्य और अन्धकार के प्रतीक के माध्यम से बोल उठा—

पातः पूष्णो भवति महते नोपतापाय यस्मात्
कालेनास्तं क इह न ययुर्यान्ति यास्यन्ति चान्ये।
एतावत्तु व्यथयतितरां लोकबाह्यैस्तमोभि-
स्तस्मिन्नेव प्रकृतिमहति व्योम्नि लब्धोऽवकाशः॥
(भ०श०, ११)

---

1. त्यागभीरुतया तस्मिन् गुणिसङ्गपराङ्मुखे। आसेवन्तावरा वृत्तीः कवयो भल्लटादयः॥
निर्वेतनास्सुकवयो भाटिको लवटस्त्वभूत्। प्रासादात्तस्य दीनारसहस्रद्वयवेतनः॥
कल्पपालकुले जन्म तत्तेनैव प्रमाणितम्। क्षीबोचितापभ्रंशोक्ते र्दैवी वाग् यस्य चाभवत्॥
—राजतरङ्गिणी, ५,२०४-६

2. मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥ वही ५,३४

सूर्य का अस्त हो जाना महान् कष्ट की बात नहीं क्योंकि काल आने पर कौन इस दुनियां से नहीं चल बसे ? दूसरे भी जा रहे हैं और जाते रहेंगे, पर सबसे अधिक दुःख तो इस बात का है कि सूर्य के जाते ही इस लोक से बाहर के अन्धकारों ने विशाल नभ पर अधिकार जमा लिया है।

यह अन्योक्ति दो बिम्ब उपस्थित करती है। एक है सूर्य के प्रकाश से प्रदीप्त सुनहले दिवस का, जिसकी महत्ता और उपादेयता का अनुमान कश्मीर की बर्फीली घाटियों में रहने वाले ही लगा सकते हैं और दूसरा है गहरी काली अमावस की रात का। कवि ने अभिधा से कुछ नहीं कहा पर अन्धकार का काला साया हृदय पर गहरी चोट करता हुआ कवि के हृदय की व्यथा का परिचय दे देता है। अवन्तिवर्मा के निधन के बाद किसी सामान्य स्तर के नृप का उदय भी लोगों की विरह व्यथा को दूर नहीं कर सकता था, पर कवि को यह देखकर और भी दुःख होता है कि अब क्षुद्रहृदय व्यक्ति ही अन्धकार को नष्ट करने को तैयार हो रहे हैं। कैसी विडम्बना है ! इसलिए कवि के हृदय से यह शब्द निकल पड़े ।

गते तस्मिन् भानौ त्रिभुवनसमुन्मेषविरह-
व्यथां चन्द्रो नैष्यत्यनुचितमतो नास्त्यसदृशम् ।
इदं चेतस्तापं जनयतितरामत्र यदमी
प्रदीपाः संजातास्तिमिरहतिबद्धोद्धुरशिखाः ।।

(भ०श०, १३)

पता नहीं किस चाटुकार ने एक कीड़े को खद्योत नाम दे दिया है जो नाम अर्थ में सूर्य को छोड़ कर चन्द्र तक को भी नहीं छूता—

सूर्यादन्यत्र यच्चन्द्रेऽप्यर्थासंस्पर्शि तत्कृतम् ।
खद्योत इति कीटस्य नाम तुष्टेन केनचित् ।। (भ०श०, १४)

भल्लट देख रहा था कि अब लक्ष्मी दुष्टों के पास ही पहुँचती है, सज्जनों के पास नहीं। यही नहीं, विद्वानों की सदुक्तियाँ भी उसे सहन नहीं होतीं। स्वच्छन्दचारिणी अभिसारिका के माध्यम से कवि ने निजी व्यथा कही है। स्वच्छन्दचारिणी दुष्ट अभिसारिका लक्ष्मी गहरे अन्धकार भरे रास्तों से जाती हुई गुणी जन के भूषणों की आवाज़ को भी सहन नहीं कर पाती—

श्रीर्विशृङ्खलखलाभिसारिका
वर्त्मभि र्घनतमोमलीमसैः ।
शब्दमात्रमपि सोढुमक्षमा
भूषणस्य गुणिनः समुत्थितम् ।। (भ०श०, ७)

परिणामस्वरूप गुणियों ने अपने गुणों को छिपा लिया है। शङ्करवर्मा के शासन के अत्याचारों के विरुद्ध आवाज़ उठाने की बुद्धि रखने वाले मनीषी धनापहरण की शंका से चुप बैठे हैं कि यदि कहीं हमारे आन्तरिक गुणों का पता चल गया तो यह राजसी ठाठ क्षण भर में छिन जायेंगे। ऐसे किसी सुप्तात्मा को सम्बोधित करते हुए कवि कमल के प्रतीक का प्रयोग करता है—

किं दीर्घदीर्घेषु गुणेषु पद्म सितेष्ववच्छादनकारणं ते।
अस्त्येव, तान्पश्यति चेदनार्या त्रस्तेव लक्ष्मी र्न पदं विधत्ते॥

(भ०श०, २५)

अरे कमल! तुमने अपने श्वेत लम्बे लम्बे तन्तुओं को क्यों छुपा रखा है? कोई कारण तो अवश्य है। हाँ है, यदि दुष्टा लक्ष्मी इन्हें देख ले तो डर के मारे यहाँ कदम न रखे।

भल्लट ऐसे व्यक्तियों को धिक्कारता है जो निरन्तर निरादर सहते हुए भी अयोग्य स्वामी की सेवा किये जा रहे हैं। भ्रमर और हाथी के प्रतीकों के माध्यम से और श्लेषयुक्त विशेषणों का प्रयोग करते हुए यह कहता है—

सोऽपूर्वो रसनाविपर्ययविधिस्तत्कर्णयोश्चापलं
दृष्टिः सा मदविस्मृतस्वपरदिक् किं भूयसोक्तेन वा।
पूर्वं निश्चितवानसि भ्रमर हे यद् वारणोऽद्याप्यसा-
वन्तःशून्यकरो निषेव्यत इति भ्रातः क एष ग्रहः॥

(भ०श०, १९)

अत्याचारी शासक के शासन में राष्ट्र की भावी दुर्गति की कल्पना से सिहर उठता हुआ कवि शिकारी के प्रतीक के माध्यम से कहता है—

मृत्योरास्यमिवाततं धनुरिदं चाशीविषाभाः शराः
शिक्षा सापि जितार्जुनप्रभृतिका सर्वाङ्गलग्ना गतिः।
अन्तःक्रौर्यमहो शठस्य मधुरं हा हारि गेयं मुखे
व्याधस्यास्य यथा भविष्यति तथा मन्ये वनं निर्मृगम्॥

(भ०श०, ९४)

मौत के खुले मुँह सा यह इसका धनुष, तेज ज़हर सने ये इसके बाण, अर्जुन को मात करने वाला इसका हुनर, सारे अङ्गों की यह चुस्ती, दिल में ज़ुल्म और अधरों पर मीठे मीठे गीत, बस जंगल का अब क्या बचा रहेगा?

दिल पर कैसी करारी चोट करने वाला प्रयोग है ? जंगल की किस्मत की बागडोर होठों पर चाशनियों से भरे तराने और दिल में जुल्म की छुरियाँ लिये शिकारी के हाथ में जा पड़ी है ? चहकते पक्षियों, उछलते कूदते हरिणों तथा अन्य पशुओं से भरा यह जंगल सूना हो जायेगा।

(अन्याय की आँधी में धूलि को आसमान पर चढ़ता देख कवि पवन को उलाहना देते हुए कहता है—पवन ! यह तेरी कैसी चाल है जो लोगों के पैरों से कुचले जाने योग्य धूलि को तेजस्वियों के उपभोगयोग्य आकाश में ले जा रहे हो ? इसे उठाते हुए तुम लोगों की आँखों में धूल तो झोंक ही रहे हो, उसकी परवाह न सही पर अपनी देह पर जो मैल लगा ली है उसे कैसे हटाओगे ?)

कोऽयं भ्रान्तिप्रकारस्तव पवन पदं लोकपादाहतानां
तेजस्विव्रातसेव्ये नभसि नयसि यत्पांसुपूरं प्रतिष्ठाम्।
स्मिन्नुत्थाप्यमाने जननयनपथोपद्रवस्तावदास्ताम्
केनोपायेन साध्यो वपुषि कलुषतादोष एष त्वयैव॥

(भ०श०, ९५)

किसी परोपकारी एवं मनस्वी व्यक्ति के प्रति समाज के अन्याय का चित्रण पेड़ को कही इस अन्योक्ति द्वारा किया है। अरे भले वृक्ष ! तुम चौराहे पर क्यों जन्मे ? इतनी अधिक घनी छाया क्यों बनाई ? फल क्यों लगाए ? फल-युक्त होने पर विनम्र क्यों हुए ? अब अपने इन बुरे कर्मों का फल भोगो। लोग तुम्हारी टहनियों को खीचें मरोड़ें और तोड़ें—यह सब कष्ट सहते रहो।

किं जातोऽसि चतुष्पथे घनतरच्छायोऽसि किं छायया
युक्तश्चेत् फलितोऽसि किं फलभरैराढ्योऽपि किं सन्नतः।
हे सद्वृक्ष सहस्व सम्प्रति सखे शाखाशिखाकर्षण-
क्षोभामोटनभञ्जनानि जनतः स्वैरेव दुश्चेष्टितैः॥

(भ०श०, ३७)

(इन अन्योक्तियों में भल्लट का राजनीति सम्बन्धी दृष्टिकोण स्पष्ट दिखाई देता है। वह शासक जिसके अपने मंत्रिमण्डल में भी फूट है और बाहर से शत्रु का आतंक बना रहता है, ऐसे शासक के गुण जल्दी ही नष्ट हो जाते हैं।)

अन्तश्छिद्राणि भूयांसि कण्टका बहवो बहिः ।
कथं कमलनालस्य मा भूवन् भङ्गुरा गुणाः ॥ (भ०श०, २४)

भीतर अनेक छिद्र हैं और बाहर बहुत से काँटे हैं, फिर भला कमलनाल के गुण क्षणभङ्गुर कैसे न हों ?

शासक को किसी प्रकार की कठिन से कठिन परिस्थितियों में पड़ कर भी राष्ट्र की सुरक्षा करनी चाहिए इस सिद्धान्त का प्रतिपादन पुरुषोत्तम विष्णु-विषयक एक अन्योक्ति में है—

पुंस्त्वादपि प्रविचलेद्यदि यद्यधोऽपि
　　यायाद् यदि प्रणयने न महानपि स्यात् ।
अभ्युद्धरेत्तदपि विश्वमितीदृशीयं
　　केनापि दिक् प्रकटिता पुरुषोत्तमेन ॥
(भ०श०, ७६)

इस उक्ति में विष्णु के मोहिनी अवतार तथा वामनावतार की ओर किए गये संकेत से राष्ट्रोद्धार में संलग्न शासक को यह उपदेश दिया गया है कि उसे राष्ट्ररक्षा के लिए बड़े से बड़े अपमान और निजी व्यक्तित्व के बलिदान के लिए तैयार रहना चाहिए ।

विप्रलम्भ शृङ्गार में पगे एक पद्य में विरहिणी का उलाहना बड़े मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त हुआ है । सुगन्धित वायु और गरजते मेघों के साथ आकर वर्षाकाल ने उसके हृदय की पीड़ा जगा दी है । मोरों ने नाचना प्रारम्भ कर दिया है, बिजली चमक चमक कर उसका दिल दहला रही है । वियोगिनी नायिका को वायु, मयूर और मेघ से कोई शिकायत नहीं क्योंकि वे सब कठोर-हृदय प्राणी हैं । नारी की व्यथा नहीं पहचानते । पर शिकायत तो इस विद्युत् से है जो उसकी भाँति नारी होती हुई भी निर्दयता का व्यवहार कर रही है । उसे तो कोमलहृदया नारी होने के नाते पतिवियुक्ता के प्रति सहानुभूति दिखानी चाहिए थी । कितना चुभता हुआ उलाहना है ।

वाता वान्तु कदम्बरेणुबहला नृत्यन्तु सर्पद्विषः
　　सोत्साहा नवतोयदानगुरवे मुञ्चन्तु नादं घनाः ।
मग्नां कान्तवियोगदुःखदहने मां वीक्ष्य दीनाननां
　　विद्युत् स्फुरसि त्वमप्यकरुणे स्त्रीत्वेऽपि तुल्ये सति ॥
(भ०श०, ९७)

६. कश्मीरी मुक्तकों की परम्परा

१. **भल्लटशतक :** कश्मीर के मुक्तकों में प्रथम और प्रधान मुक्तक *भल्लटशतक* है। भल्लट ने अपने मुक्तको में विशेष रूप से अप्रस्तुतप्रशंसा को अपनाया है किन्तु कहीं कहीं उन्होंने शृङ्गार, भावध्वनि तथा विविध अलङ्कारों से अपनी कविता को चमत्कारक्षम बनाया है। उदीयमान सूर्य का वर्णन इस प्रकार किया जा रहा है :

युष्माकमम्बरमणेः प्रथमे मयूखा-
स्ते मङ्गलं विदधतूदयरागभाजः ।
कुर्वन्ति ये दिवसजन्ममहोत्सवेषु
सिन्दूरपाटलमुखीरिव दिक्पुरन्ध्रीः ।। (भ०श०, २)

भल्लटशतक के अन्यापदेश मुक्तकों के सम्बन्ध में ऊपर लिखा जा चुका है।

२. **अन्योक्तिमुक्तालता :** यह मुक्तक काव्य महाकवि शम्भु की रचना है। ये कश्मीर के प्रसिद्ध राजा हर्षदेव के सभाकवि थे जिसका शासन काल १०८९ ई० से ११०१ ई० तक था। श्रीकण्ठ के यशस्वी रचयिता महाकवि मङ्ख ने शम्भु को महाकवि के रूप में तथा उसके पुत्र आनन्द को विविधशास्त्रों का ज्ञाता माना है।[1] शम्भु की अन्य रचना *राजेन्द्रकर्णपूर* है जो मुक्तक न होकर राजा हर्ष की प्रशंसा में लिखा स्तुतिकाव्य है। *अन्योक्तिमुक्तालता* की १०८ अन्योक्तियाँ विभिन्न क्षेत्रों से ली गई हैं और कई मार्मिक तथ्यों का उद्घाटन करती हैं। महाकवि शम्भु के मन में जहाँ अपने समय की कविता के कटु आलोचकों के प्रति आक्रोश है वहाँ सत्कार्यों में अपने धन को न खर्च करने वाले वैभवशाली व्यक्तियों के लिए निरादर की भावना है।

किसी विद्वत्सभा में मूर्ख को सम्मानित होते देख कर कवि आश्रयदाता को जतलाना चाहता है कि जिस सभा में नाना विद्याओं और कलाओं की सुगन्धि बिखेरने वाले पण्डित शोभा देते हैं वहाँ निर्गन्ध जडबुद्धि को प्रधान पद देना समुचित नहीं होता। किसी भी क्षेत्र में चाहे वह राजनीति का हो या प्रशासन का, धर्म का हो या शिक्षा का, अनुपयुक्त व्यक्ति को दी गई

---

1. अशेषभिषगग्रण्यं शरण्यं शास्त्रपद्धतेः ।
ववन्देऽथ तमानन्दं सुतं शम्भुमहाकवेः ।। —श्रीकण्ठचरित, २५, ६७

प्रधानता सारी व्यवस्था का सौन्दर्य बिगाड़ देती है। हार गूंथने वाले माली के प्रति कही इस अन्योक्ति में यही भाव ध्वनित होता है—

उत्फुल्लैर्बकुलैर्लवङ्गमुकुलैः शेफालिकाकुड्मलै-
नींलाम्भोजकुलैस्तथा विचकिलैः क्रान्तं च कान्तं च यत्।
तस्मिन् सौरभधाम्नि दाम्नि किमिदं सौगन्धवन्ध्यं मुधा
मध्ये मुग्ध कुसुम्भमुम्भसि भवेन्नैवैष युक्तः क्रमः।।
(अ०मु०, ५)

(सौरभ का आगार जो हार खिले हुए मौलसिरी के फूलों से, लवङ्ग की कलियों से, शेफालिका के मुकुलों से नीलकमलों से और विचकिल फूलों से गूंथा शोभा दे रहा है, उस के बीचों बीच, अरे भोले, यह निर्गन्ध कुसुम्भ क्यों गूंथ रहे हो ? यह तो ठीक रीत नहीं !)

असहृदयों के बीच फंसे कविहृदय की वेदना मौलसिरी की छोटी सी बेल की अन्योक्ति में फूट पड़ी है। मौलसिरी पर अल्पवयस्का नायिका के व्यवहार का आरोप करते हुए कवि कहता है—

केनात्र कर्कशकरीरवनान्तराले
बाले बलाद् बकुलकन्दलि रोपितासि।
यत्राप्नुयु र्मधुलिहस्तव कोमलानि
नो कुड्मलानि न दलानि न कन्दलानि।।
(अ०मु०, ७)

अरी भोली मौलसिरी की बेल ! तुम्हें किसने ज़बर्दस्ती इन कठोर कंटीले करीर के पेड़ों के जंगल के बीच लगा दिया है ? तुम्हारी कोमल कलियों, पत्तों तथा अंकुरों तक भँवरे नहीं पहुँच पाते। मौलसिरी के सुकुमार नन्हें नन्हें नक्षत्राकार फूलों की मादक सुगन्धि भंवरों को मुग्ध कर देने वाली होती है, परन्तु पत्तों रहित काँटेदार करीर के जंगलों में खिलते हुए उन फूलों का मूल्य कौन पहचान पाता है। प्रशंसा और अनुराग की प्यास हृदय में लिए वे फूल कहीं काँटों में गिर कर मुरझा जाते हैं। असहृदय अपरिचितों की भीड़ में अपने को अकेला पाते हुए कवि की घुटन मौलसिरी के वर्णन के माध्यम से कितने उग्र रूप में प्रकट हुई है।

सहानुभूतिशून्य ईर्ष्यालु आलोचकों को सुनाते हुए कवि की ऊँट के प्रति उक्ति है—

उत्कण्ठाकुलमस्तु कण्टककुले सञ्जायतां ते मनः
सानन्दं पिचुमन्दकन्दलदलास्वादेषु का वा क्षतिः ।
एतत् किं नु तव क्रमेलक कथङ्कारं सहे दुःसहं
तस्मिन् पुण्ड्रककन्दलीकिसलये येनासि निन्दापरः ।।

(अ०मु०, १८)

यदि तेरा मन कांटों के समूह को पाने और नीम के पत्तों को खाने से आनन्दित होता है तो होता रहे, इसमें क्या हानि है ? परन्तु हे ऊँट ! मैं तेरी यह धृष्टता कैसे सहन कर लूं जो तू मीठे गन्ने की पोरियों की निन्दा करने में लगा है ?

आलोचकों के शिकार किसी कवि के प्रति सान्त्वना भरे शब्द पौंडे (गन्ने) के माध्यम से कहे हैं—

धत्ते कीरवधूरदच्छदसुधामाधुर्यमुद्रां रसो
येषां सा परिपाकसम्पदपि च क्षौद्रद्रवद्रोहिणी ।
तेषां पुण्ड्रककाण्ड पाण्डिमजुषां त्वत्पर्वणां चर्वणां
किं मुग्धाः करभा मुधैव विरसा विन्दन्ति निन्दन्ति च ।।

(अ०मु०, ८)

(हे गन्ने ! तुम्हारी जिन पोरियों का रस कश्मीर देश की सुन्दर रमणियों के अधरों की मधुर छाप लिये है और जिसका पका हुआ गुड़ शहद को भी मात करता है, उन सफेद पोरियों के आस्वाद को ये अरसिक ऊँट व्यर्थ ही प्राप्त करते हैं और व्यर्थ ही उनकी निन्दा करते हैं ।)

वर्तमान की कटुता से सन्त्रस्त कवि सुन्दर अतीत की स्मृतियों को कुरेदता हुआ भ्रमर को लक्ष्य करके कहता है—

याच्यस्ते खदिरः करीरविटपः सेव्योऽपि किं कुर्महे
मार्गः सङ्गत एष ते खरतरुर्यद्भैरवो मारव ।
तन्मल्लीमुकुलं तदुत्पलकुलं सा यूथिकावीथिका
चङ्गं तच्च लवङ्गमङ्ग भवतो हा भृङ्ग दूरं गतम् ।।

(अ०मु०, ३३)

रे सुन्दर भंवरे अब तुम्हें खैर के पेड़ से ही याचना करनी है और करीर के पेड़ की सेवा करनी है । हम क्या करें ? अब तुम्हारे लिए यह काँटेदार वृक्षों से भरा रेगिस्तानी रास्ता ही उपयुक्त है । वह मल्लिका की कली,

नील कमलों का वह समूह, जूही की वह क्यारी और वह सुन्दर लवङ्गलता सब के सब दूर चले गये हैं।

निराशा भरे विपरीत वातावरण में जीवन की तुलना में मृत्यु ही श्रेयस्कर लगने लगती है। जब कभी कवि अपने को चारों ओर से स्वार्थ, घृणा, उपेक्षा तथा अपमान से घिरा पाता है तो उसकी लेखनी सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कर पाती। उसकी आत्मा मृत्यु के आलिङ्गन को चाहने लगती है। इसी भाव की अभिव्यक्ति लवङ्ग को कही गई इस उक्ति में है—

कुञ्जे कोरकितं करीरतरुभि र्द्रेक्काभिरुन्मुद्रितं
यस्मिन्नङ्कुरितं करञ्जविटपैरुन्मीलितं पीलुभिः।
तस्मिन् पल्लवितोऽसि किं वहसि किं कान्तामनोवागुरा-
भङ्गीमङ्ग लवङ्ग भङ्गमगमः किं नासि कोऽयं क्रमः॥
(अ०मु०, ४३)

हे लवङ्ग, जिस कुञ्ज में करीर के पेड़ पनप रहे हैं, जहाँ द्रेक के पेड़ खिल रहे हैं, जहाँ करील के झाड़ों के अंकुर फूट रहे हैं और पीलू विकसित हो रहे हैं, वहाँ तुम व्यर्थ क्यों खिल रहे हो ? क्यों व्यर्थ ही रमणियों के मनों को बाँधने वाली अदायें दिखा रहे हो ? तुम टूट ही क्यों नहीं गये ? यह कैसी रीत है ?

परोपकार से नितान्त विमुख प्रचुर धन सम्पन्न व्यक्ति को उलाहना देते हुए कवि समुद्र के बहाने कहता है—

नीरं नीरसमस्तु कौपमिति तत्पाथो वरं मारवं
कासाराम्बु तदस्तु वा परिमितं तद्वाऽस्तु वापीपयः।
पाने मज्जनकर्मनर्मणि तथा बाह्यैरलं वारिधे
कल्लोलावलिहारिभिस्तव नभः सञ्चारिभिर्वारिभिः॥
(अ०मु०, ५७)

हे समुद्र ! तुम्हारी आकाश तक उठने वाली लहरों का क्या करें जिनका पानी न पीने के काम आता है और न नहाने के। तुम्हारे पानियों से कूएँ का नीरस जल ही भला है और छोटे तलैया तथा बावली का उथला पानी ही अच्छा है।

शम्भु की कई अन्योक्तियाँ शृङ्गार का पुट लिए अपनी प्रियतमा की

स्मृति में खोए एक प्रेमी की स्थिति का अंकन भ्रमरान्योक्ति में इस प्रकार हुआ है—

नानन्दं मुचुकुन्दकुड्मलकुले नो केतके कौतुकं
नोत्फुल्ले कुमुदे मदं न कुटजे कौटुम्ब्यमालम्बते ।
चोलीदन्तचतुष्किकाशुचिरुचिस्मेरां स्मरन् मालतीं
किं त्वास्ते तरुकोटिकोटरकुटीबद्धास्पदः षट्पदः ॥
(अ०मु०, ३०)

संसार भर के फूलों से विमुख हुआ केवल मालती की मुसकान को याद करता हुआ वृक्ष की कोटर कुटीर में चुपचाप बैठा भ्रमर वियोगी सच्चे प्रेमी का मार्मिक प्रतीक है।

३-४. **चतुर्वर्गसंग्रह एवं चारुचर्या** : ग्यारहवीं शती के उत्तरार्ध में हुए क्षेमेन्द्र के प्रकाशित ग्रन्थों में ***चतुर्वर्गसंग्रह*** तथा ***चारुचर्या*** नीतिपरक मुक्तक काव्य हैं। ***चतुर्वर्गसंग्रह*** के चार परिच्छेदों में क्रमशः धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष विषयक पद्य हैं। प्रथम परिच्छेद के २७ पद्यों में कवि ने धर्म के विभिन्न अंगों—सत्य, अहिंसा, पवित्रता, दान, शान्ति, वैराग्य आदि पर प्रकाश डाला है। आडम्बरहीन जीवन बिताने पर बल देते हुए कहा है—

तप्तैस्तीव्रव्रतैः किं विकसति करुणास्यन्दिनी यद्यहिंसा
किं दूरैस्तीर्थसारैर्यदि शमविमलं मानसं सत्यपूतम् ।
यत्नादन्योपकारे प्रसरति यदि धीर्दानपुण्यैः किमन्यैः
किं मोक्षोपाययोगैर्यदि शुचिमनसामच्युते भक्तिरस्ति ॥
(च०सं०, १,२७)

मनुष्य में यदि करुणा प्रवाहित करने वाली अहिंसा है तो उसे तीव्रतपों से क्या ? यदि शान्ति से निर्मल हुआ मन सत्यपूत है तो दूर दूर के तीर्थों से क्या वास्ता ? यदि बुद्धि परोपकाररत है तो दिखावे के दानपुण्यों से क्या ? यदि पवित्र मन वालों की अच्युत (विष्णु) में दृढ़ भक्ति है तो मोक्ष के अन्य उपायों से क्या ?

द्वितीय परिच्छेद के २५ पद्यों में धन के महत्त्व का प्रतिपादन तथा उसकी वृद्धि और रक्षा के उपायों का वर्णन है। जीवन के कटु सत्य को कितनी स्पष्टता से बताया है—

तावद्धर्मकथा मनोभवरुचिर्मोक्षस्पृहा जायते
यावत्तृप्तिसुखोदयेन न जनः क्षुत्क्षामकुक्षिः क्षणम् ।
प्राप्ते भोजनचिन्तनस्य समये वित्तं निमित्तं विना
धर्मे कस्य धियः स्मरं स्मरति कः केनेक्ष्यते मोक्षभूः ॥
(च०स०, २,२४)

(धर्म की कथाएँ, काम में रुचि और मुक्ति की चाह तभी होती हैं जब मनुष्य का पेट भरा हो। गाँठ में पैसा न होने पर भोजन की चिन्ता लगी हो तो कुछ और नहीं सूझता।)

(तृतीय परिच्छेद में कामप्रशंसा के प्रसंग में नारी के सौन्दर्य का, प्रियजन के विरह की पीड़ा का तथा मिलन की घड़ियों के हर्षातिरेक का अंकन है। जो नारी संयोगावस्था में आनन्दसन्दोह है वही विरहावस्था में दुःखजनिका हो जाती है—)

कुवलयमयी लोलापाङ्गे तरङ्गमयी भ्रुवोः
शशिशतमयी वक्त्रे गात्रे मृणाललतामयी ।
मलयजमयी स्पर्शे तन्वी तुषारमयी स्मिते
दिशति विषमं स्मृत्या तापं किमग्निमयीव सा ॥
(च०स०, ३,७)

यह क्या बात है कि वही प्रिया जिसके चञ्चल नयन नीलकमल से हैं, भौहें तरङ्गों सी, मुख सौ चन्द्रों के समान और गात्र मृणाललता की तरह है और जिसका स्पर्श चन्दन की तरह और मुस्कान हिमकणों की तरह शीतल है वही प्रिया विरह में क्यों अग्निमयी सी हो जाती है और उसकी याद भी विषम ताप को उत्पन्न करने लगती है ?

(प्रियमिलन के अवसर पर हर्षविभोर नायिका की चेष्टायें देखते ही बनती हैं ;)

समायाते पत्यौ बहुतरदिनप्राप्यपदवीं
समुल्लङ्घ्याविघ्नागमनचतुरं चारुनयना ।
स्वयं हर्षोद्बाष्पा हरति तुरगस्यादरवती
रजः स्कन्धालीनं निजवसनकोणावहननैः ॥
(च०स०, ३,१८)

पति बहुत दिनों बाद घर लौटा है। उसे देखते ही सुनयना गृहिणी की आँखों में हर्ष के आँसू भर आये हैं। भावविभोर होकर वह अपने आँचल से उस घोड़े के गले की धूल झाड़ने लगती है जो उसके प्रिय को घर तक ले आया है। प्रेमातिरेक का कैसा स्वाभाविक अङ्कन है।

अन्तिम परिच्छेद में सांसारिक वस्तुओं की क्षणभंगुरता और वैराग्य की महत्ता का प्रतिपादन है। कवि कहता है—

न कस्य कुर्वन्ति शमोपदेशं स्वप्नोपमानि प्रियसङ्गतानि।
जरानिपीतानि च यौवनानि कृतान्तदष्टानि च जीवितानि॥
(च०स०, ४)

अनुष्टुप् छन्द में रचित *चारुचर्या* के १०१ पद्यों में दैनिक सद्व्यवहार की बातों की चर्चा है। प्रत्येक पद्य की प्रथम पंक्ति में उपदेशात्मक उक्ति है तथा दूसरी पंक्ति उसी उक्ति के समर्थन में किसी प्रसिद्ध घटना की ओर संकेत करती है। निम्न श्लोकों में अश्वत्थामा, धृतराष्ट्र और जनमेजय के नाम लिये गये है—

कुर्याद् वियोगदुःखेषु धैर्यमुत्सृज्य दीनताम्।
अश्वत्थामवधं श्रुत्वा द्रोणो गतधृतिर्हतः॥ (चा०च०, ४०)

न पुत्रायत्तमैश्वर्यं कार्यमार्यैः कदाचन।
पुत्रार्पितप्रभुत्वोऽभूद धृतराष्ट्रस्तृणोपमः॥ (चा०च०, ८०)

ईर्ष्या कलहमूलं स्यात् क्षमा मूलं हि सम्पदाम्।
ईर्ष्यादोषाद् विप्रशापमवाप जनमेजयः॥ (चा०च०, १२)

५. **चौरपञ्चाशिका :** दक्षिण देश के चालुक्य वंश के अन्तिम शासक सोमेश्वर चतुर्थ (११८२ ई०) के सभाकवि बिल्हण ने *चौरपञ्चाशिका* मुक्तक लिखा है। यह विशुद्ध रूप से शृङ्गारमुक्तक है और इसके सभी श्लोक 'अद्यापि' पद से प्रारम्भ होते हैं। पद्यों की सरलता, प्रवाह, सङ्गीत तथा ऐन्द्रियकता प्रभावोत्पादक हैं। विरह की सूचनामात्र से विषण्ण होने वाली नायिका के अवसाद का स्मरण नायक को शोकातुर कर रहा है—

अद्यापि तां गमनमित्युदितं मदीयं
श्रुत्वैव भीरुहरिणीमिव चञ्चलाक्षीम्।
वाचा स्खलद्विगलदश्रुजलाकुलाक्षीं
सञ्चिन्तयमि गुरुशोकविनम्रवक्त्राम्॥ (चौ०प०, २८)

प्रियतम की विदाई की घड़ी आ पहुँची है, यह सुनते ही प्रेमिका की आँखें डरी हुई हरिणी की तरह चञ्चल हो उठीं, वाणी लड़खड़ा उठी, आँसू बहने लगे और तभी उसने भारी शोक से मुख नीचा कर लिया।

नायक ने जिस राजपुत्री को अपने हृदय में स्थान दिया है उसे वह स्वर्ग के गन्धर्व, यक्षादि की कन्या समझ लेता है—

अद्यापि तां नृपतिशेखरराजपुत्रीं
सम्पूर्णयौवनमदालसघूर्णनेत्राम्।
गन्धर्वयक्षसुरकिन्नरनागकन्यां
स्वर्गादहो निपतितामिव चिन्तयामि॥
(चौ०प०, ४५)

चौरपञ्चाशिका के परिशिष्ट में उपलब्ध इस श्लोक में प्रेमिका को प्राप्त करने के प्रयास में नायक को अपने प्राणों के चले जाने का भी भय नहीं है—

भवत्कृते खञ्जनमञ्जुलाक्षि
शिरो मदीयं यदि यातु यातु।
दशाननेनापि दशाननानि
नीतानि नाशं जनकात्मजार्थम्॥
(चौ०प०, परिशिष्ट ३)

बिल्हणपञ्चाशिका अथवा *चौरपञ्चाशिका* के उत्तर में लिखा *बिल्हणपञ्चाशत्प्रत्युत्तर* अथवा *नरेन्द्रतनयासञ्जल्पित* नाम से परिशिष्ट मिलता है। यहाँ कव्वाली की उत्तर प्रत्युत्तर की शैली में नायिका की ओर से कहा गया है—हे सखी! मैं वासगृह में उस छलिया के साथ बिताये प्रेमपगे क्षणों को याद कर रही हूँ—

अद्यापि तेन कितवेन गृहीतवस्त्रा
शय्यानिवेशभवनं सखि नीयमाना।
प्रेमार्द्ररुद्धवचनानि मुहुः सृजन्ती
चात्मानमप्रतिमलब्धरसं स्मरामि॥
(चौ०प०, परिशिष्ट २)

चौरपञ्चाशिका के कश्मीरी पाठ के अन्तिम पद्यों में कवि प्रिया के विरह को मिलन से बहुमूल्य मानता है क्योंकि मिलन में तो वह एक दिखाई

देती है पर उसके विरह में सारा विश्व ही प्रियामय प्रतीत होता है। यह रागात्मकता की चरम सीमा है।

प्रासादे सा पथि पथि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा।
पर्यङ्के सा दिशि दिशि च सा नास्ति तद्वियोगातुरस्य ।।
देहान्तः सा बहिरपि च सा नास्ति दृश्यं द्वितीयं।
सा सा सा सा त्रिभुवनगता तन्मयं विश्वमेतत् ।।
संगमविरहवितर्के वरमिह विरहो न संगमस्तस्याः।
सङ्गे सैव तथैका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे ।।[1]

६. **शान्तिशतक** : नीति और भक्ति के बीच झूलता हुआ एक अन्य मुक्तककाव्य कश्मीरी कवि शिल्हण या सिल्हण (१३वीं शताब्दी) का *शान्तिशतक* है। यह काव्य भर्तृहरि के *वैराग्यशतक* के अनुकरण पर रचा गया प्रतीत होता है। जीवानन्द विद्यासागर सम्पादित संस्करण में १०१ पद्य हैं जिनमें से सात पद्य भर्तृहरि के *वैराग्यशतक* से लगभग अक्षरशः मिलते हैं। कुछ अन्य में भावसाम्य है। १२०२ ईसवी में श्रीधरदास द्वारा सम्पादित *सदुक्तिकर्णामृत* में शिल्हण को कश्मीरी कवि कहा गया है और *शान्तिशतक* के पद्य भी उद्धृत किये गये हैं। स्पष्ट है कि शिल्हण भर्तृहरि के बाद और श्रीधरदास से पूर्व हुए होंगे। कल्हण की *राजतरङ्गिणी* में शिल्हण का उल्लेख नहीं मिलता। हो सकता है शिल्हण कल्हण के बाद हुए हों या फिर कवि के कश्मीर से बाहर चले जाने से उस की चर्चा का प्रसंग न आया हो। इस शतक के अधिकांश हस्तलेख बंगाल से प्राप्त हुए हैं। एक हस्तलेख ही जम्मू के श्रीरणवीर संस्कृत अनुसंधान संस्थान में सुरक्षित है।

शान्तिशतक के पद्य परितापोपशम, विवेकोदय, कर्त्तव्योपदेश तथा ब्रह्मप्राप्तिनामक चार परिच्छेदों में विभाजित हैं। शतक के प्रारम्भ में कर्मों की महिमा बताई गई है—

नमस्यामो देवान् ननु हतविधेस्तेऽपि वशगा
विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः।
फलं कर्मायत्तं किममरगणैः किञ्च विधिना
नमस्तत् कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति ।।
(शा०श०,१)

1. चौ० प० कश्मीरी पाठ अन्तिम पद्य।

हम देवताओं को तो नमस्कार कर लेते किन्तु देवता लोग भी विधाता के अधीन हैं और विधाता भी हमारे कर्मों का ही फल दे सकता है। अतः कर्मों को ही नमस्कार है जिनपर विधाता का वश नहीं चलता।

कवि इस बात पर दुःख प्रकट करता है कि संसार के लोग प्रभुभक्ति का मार्ग नहीं अपनाते जिसमें आनन्द ही आनन्द है—

नाथे श्रीपुरुषोत्तमे त्रिजगतामेकाधिपे चेतसा
सेव्ये स्वस्य पदस्य दातरि सुरे नारायणे तिष्ठति।
यं कञ्चित् पुरुषाधमं कतिपयग्रामेशमल्पार्थदं
सेवायै मृगयामहे नरमहो मूढा वराका वयम्।
(शा०श०, ११)

आश्चर्य है, हम बेचारे भी कितने मूर्ख हैं। तीनों लोकों के स्वामी भगवान् विष्णु मानसिक सेवामात्र से ही भक्त को अपना परम पद देने को तैयार रहते हैं। ऐसे प्रभु के रहते हुए भी हम जिस किसी सामान्य जन की सेवा के लिए लालायित रहते हैं जो हमें तनिक सा टुकड़ा भी डाल देता है।

वन में स्वतन्त्र विचरते हुए निश्चिन्त मृग को सम्बोधित करते हुए कवि कहता है—

यद्वक्त्रं मुहुरीक्षसे न धनिनां ब्रूषे न चाटुं मृषा
नैषां गर्वगिरः शृणोषि न पुनः प्रत्याशया धावसि।
काले बालतृणानि खादसि सुखं निद्रासि निद्रागमे
तन्मे ब्रूहि कुरङ्ग! कुत्र भवता किं नाम तप्तं तपः॥
(शा०श०,१४)

हे मृग! तुमने कहाँ कौनसा तप तपा है जो तुम तृण खाकर सुख की नींद सोते हो और तुम्हें धनियों की खुशामद करने की नौबत नहीं आती।

अन्तिम अवस्था में भी इस संसार का मोह न छोड़ने वाले वृद्ध के प्रति कवि कहता है—

अग्रे कस्यचिदस्ति कञ्चिदभितः केनापि पृष्ठे कृतः
संसारः शिशुभावयौवनजराभावावतारादयम्।
बालस्तं बहु मन्यतामसुलभं प्राप्तं युवा सेवतां
वृद्धस्त्वं विषयाद् बहिष्कृत इव व्यावृत्य किं पश्यसि॥
(शा०श०)

यह संसार, बचपन, जवानी और बुढ़ापे के रूप में किसी के आगे है, किसी के इर्द गिर्द फैला है और किसी के पीछे छूट गया है। शिशु के लिये सुलभ नहीं वह उसे आदर दे, युवक को मिला है तो उसे भोगे पर हे वृद्ध ! विषयों से बाहर धकेले जाकर भी तुम क्यों मुड़ मुड़ कर पीछे देख रहे हो ?

मुक्तक काव्यों का एक अन्य वर्ग स्तोत्रमुक्तक काव्यों का है जिनमें किसी न किसी इष्टदेव की स्तुति मिलती है।[1] आनन्दवर्धन का **देवीशतक**, कल्हण का **अर्धनारीश्वरस्तोत्र**, सर्वज्ञमित्र का **स्रग्धरास्तोत्र**, लोष्टक का **दीनाक्रन्दनस्तोत्र**, अवतार का **ईश्वरशतक** इसी कोटि में आते हैं। **देवीशतक** में चित्रबन्धों से अलंकृत शैली में पार्वती की स्तुति के पद्य हैं। कल्हण के **अर्धनारीश्वर स्तोत्र** में शार्दूलविक्रीडित छन्द में रचित 18 पद्य हैं। **स्रग्धरास्तोत्र** में स्रग्धरा छन्द में रचित 31 पद्यों में तारादेवी की स्तुति की गई है। अवतार का **ईश्वरशतक** आलङ्कारिक शैली में रचित शिवस्तुति के पद्यों का संग्रह है। अनेक प्रकार के यमक, अनुप्रास आदि शब्दालङ्कारों तथा अनेकविध चित्रबन्धों से **ईश्वरशतक** और **देवीशतक** की शैली दुरूह हो गई है। यह दुरूहता एवं कृत्रिमता निम्नलिखित श्लोकों में देखी जा सकती है—

रक्षावतारं गम्भीरं भवमुग्रं हरेश्वर।
नय नीतिगुणं तं तु ममताप्रियतामिमाम् ।। (ई०श०, २)

रसारसा सारसार सारसाररसारसा।
रसा रसासारसारसारसाररसारसा ।। (ई०श०, ७१)

महदे सुरसं धम्मे तमवसमासङ्गमागमाहरणे।
हरबहुसरणं तं चित्तमोहमवसरउ उमे सहसा ।। (ई०श०७६)
(संस्कृतमहाराष्ट्रभाषाश्लेषः)

इस अलङ्कृत शैली से भिन्न शैली में रचित एक स्तोत्र लोष्टक का **दीनाक्रन्दनस्तोत्र** है। काव्यसौन्दर्य की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण न होने पर भी इसमें भक्त की दीनता और व्याकुलता का सुन्दर वर्णन है। 54 पद्यों के इस स्तोत्र में कवि कहीं शिव को उलाहना देता है तो कहीं अपनी दीनता की दुहाई देकर दुःखों से बचाने की प्रार्थना करता है—

---

1. इसी शैली के **स्तोत्रसमुच्चय** भाग १, अड्यार पुस्तकालय तथा अनुसन्धान संस्थान, अड्यार, मद्रास से 1969 ई० में प्रकाशित हुए हैं।

पूर्वं न चेद् विरचिता तव देव सेवा
तेनैव नैव दयसे श्रयतो ममार्तिम् ।
किं प्रागसंस्तुत इति प्रतिपन्नमूल-
च्छायं गतश्रमरुजं न तरुः करोति ।। (दी०स्तो०,३५)

ठीक है मैंने पहले आपकी सेवा नहीं की । प्रभो, क्या इसी कारण मुझ दुःखी पर दया नहीं कर रहे हो ? क्या वृक्ष अपनी छाया तले आये जीव की थकान इसलिए दूर नहीं करता कि उसने उस वृक्ष की पहले प्रशंसा नहीं की ? कवि आगे चलकर अपनी कृपापात्रता जतलाते हुए कहता है कि मैं यदि पापी हूँ तो शंकर आप पाप नष्ट करने में निपुण हैं अतः मुझ पर दया अवश्य करो—

अहं पापी पापक्षपणनिपुणः शंकर भवा-
नहं भीतो भीताभयवितरणे ते व्यसनिता ।
अहं दीनो दीनोद्धरणविधिसज्जस्त्वमितर-
न्न जानेऽहं वक्तुं कुरु सकलशोच्ये मयि दयाम् ।। (दी०स्तो०)

मैं यदि पापी हूँ तो हे शङ्कर, आप पाप नष्ट करने में निपुण हैं । आप सब दृष्टियों से शोचनीय मेरे ऊपर दया करें ।

स्थानाभाव के कारण कश्मीर के कतिपय अन्य मुक्तकों के सम्बन्ध में विचार नहीं किया जा सका है ।

७. भल्लटशतक के प्रस्तुत संस्करण में प्रयुक्त हस्तलिखित प्रतियाँ—मूल-श्लोकों तथा महेश्वरकृत संस्कृत टीका से समन्वित *भल्लटशतक* का सम्पादन करने के लिए निम्नलिखित हस्तलिखित प्रतिलिपियों का उपयोग किया गया है ।

(१) ह प्रतिलिपि : क्योंकि *भल्लटशतक* की इस हस्तलिखित प्रतिलिपि में मूल श्लोक तथा संस्कृत टीका संयुक्त रूप से विद्यमान है, इसी कारण प्रस्तुत संस्करण के सम्पादनार्थ इसी प्रतिलिपि को आधारग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया है । यह प्रतिलिपि पंजाब विश्वविद्यालय के विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोधसंस्थान पुस्तकालय, होशियारपुर के लालचन्द संग्रह में सुरक्षित है। इसकी हस्तलिखित प्रतिलिपि क्रम संख्या ३८०० है । यह मूलतः भूर्जपत्र पर मलयालम लिपि में लिखी गई है । इसमें पद्यसंख्या ९९ तक पद्य तथा टीका दोनों हैं । पद्यसंख्या १०० से १०५ तक श्लोक प्रतीकमात्र देकर टीका भाग

दिया हुआ है। ६६ से ८० पत्र किनारे से त्रुटित हैं। पत्र का आकार $६\frac{१}{२}'' \times \frac{३}{४}''$ है। प्रत्येक पृष्ठ पर ४ पंक्तियाँ तथा प्रत्येक पंक्ति में ३६ अक्षर हैं। इसकी साधारण अवस्था अच्छी नहीं है। पाठ शुद्ध तथा सुवाच्य है। कई स्थानों में छिद्र और रिक्त स्थान हैं। यह लगभग ३०० वर्ष प्राचीन प्रतीत होती है। कहीं भी लिपिकर्ता का नाम तथा समय नहीं बताया गया है। डा० वी० राधवन् ने इस हस्तलिखित प्रति का कोई उपयोग नहीं किया है। इसका प्रारम्भ 'कूटलूर मेलेटत्ते भल्लटशतकव्याख्यानम्' से होता है। इसका अर्थ है कि ***भल्लटशतक*** की इस टीका को रखने का स्थान कूटलूर मेलतम् का घर है। इसके तुरन्त बाद निम्नलिखित मंगल वचन हैं—

हरिः श्री गणपतये नमः। श्री गुरुभ्यो नमः।
अविघ्नमस्तु। श्रीसरस्वत्यै नमः। श्रीदुर्गायै नमः।।

टीका के अन्त की पंक्ति इस प्रकार है—

अगाधगर्ते निक्षिपति चेत्यर्थः। तत्र दुः। वस्तु व्यज्यते। इति श्रीमन्महेश्वरेण। त्र + णाराध्य।

(२) **म**[1] प्रतिलिपि : यह जम्मू विश्वविद्यालय के विश्वविद्यालय पुस्तकालय के कश्मीर विभाग (प्रवेश सं० १५६७१८, २१५३/बी०/७७) में सुरक्षित है। इसमें पूरे आकार के २० पृष्ठ हैं। मद्रास से लाई गई यह प्रति मूलतः त्रिवेन्द्रम से उपलब्ध एक हस्तलिखित प्रति की प्रतिलिपि है। गवर्नमैन्ट ओरियन्टल मैन्यूस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास में यह प्रति (क्रमसंख्या डी० १२१०६) विद्यमान है। इसमें कुल ११० श्लोक तथा २० पृष्ठ हैं। इसका प्रारम्भ ।। श्रीः ।। भल्लटशतक और 'तां भवानीं' इस मंगलश्लोक से होता है तथा इति 'भल्लटशतकं समाप्तम्।' समाप्तञ्चेदम्।' इस रूप में पुष्पिका मिलती है।

भल्लटशतक की भूर्जपत्र की एक और प्रतिलिपि (डी० १२११०) ग्रन्थाकार रूप में उत्कीर्ण की गई है। यह गवर्नमैन्ट ओरियन्टल मैन्यूस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास में इसी प्रतिलिपि के साथ सुरक्षित है। परन्तु वह उपलब्ध नहीं हो सकी और इसी कारण इसका वतमान संस्करण में उपयोग नहीं हो सका। इसमें कुल श्लोक संख्या १०५ है।

(३) **म**[2] प्रतिलिपि : जम्मू विश्वविद्यालय के विश्वविद्यालयपुस्तकालय

में स्थित कश्मीरविभाग (प्रवेश सं० १५९७१९, २१५३/बी०/७७) में यह प्रति सुरक्षित है। गवर्नमैन्ट ओरियन्टल मैन्यूस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास में स्थित मूलतः मालाबार लिपि वाली हस्तलिखित प्रति सं० २९०७ से इस प्रतिलिपि को तैयार किया गया है। इस प्रति में केवल संस्कृत टीका भाग ही है जिसमें १०५ श्लोकों की व्याख्या की गई है। पूरे आकार के सफेद पृष्ठों की संख्या ९४ है। प्रतीत होता है कि मालाबार से उपलब्ध संस्कृत टीका भाग वाली इस प्रति को होशियारपुर की ह प्रति के गद्य भाग से तैयार किया गया है क्योंकि ६६ से ८० पत्र तक जो भाग ह प्रति के किनारे से त्रुटित है उस अंश का म² में अभाव है तथा स्थान खाली छोड़ा गया है। शेष टीका ह की तरह है। इसके आरम्भ में श्रीरस्तु। भल्लटशतकव्याख्या। हरिः। श्रीगणपतये नमः मंगलाचरण है तथा अन्त में अगाधे गर्ते निक्षिपति चेत्यर्थः। तत्र दुः। वस्तु व्यज्यते। इति श्रीमन्महेश्वरेण।

यादृशं पुस्तकं दृष्टं तादृशं लिखितं मया।
अबद्धं वा सुबद्धं वा मम दोषो न विद्यते ॥

ओं तत् सत्।

(४) अ प्रतिलिपि : यह हस्तलिखित प्रति जम्मू विश्वविद्यालय के विश्वविद्यालयपुस्तकालय के कश्मीरविभाग (प्रविष्टि सं० १५९७२०, २१५३/बी०/७७) में विद्यमान है। इसमें बड़े आकार के २४ पृष्ठ हैं। इसे भूर्जपत्र की प्रति से सफेद पृष्ठों पर लिखवाकर मंगाया गया है। भूर्जपत्र पर मलयालम में लिखी हुई यह हस्तलिखित प्रति अड्यार लाइब्रेरी, अड्यार (सं० ४० सी० ८ सूचीपत्र ।। पृ० ८ बी०) में सुरक्षित है। इसमें १०८ श्लोक हैं। इसका प्रारम्भ श्रीः। भल्लटशतकम्। भल्लटः। तां भवानीं से होता है और अन्त में इति भल्लटशतकम् समाप्तम्। लिखा है।

(ङ) क प्रतिलिपि : *भल्लटशतक* का यह संस्करण सन् १८९९ में निर्णयसागर प्रैस, बम्बई में (काव्यमाला शृङ्खला का चतुर्थ गुच्छक) छपा था। इसमें इस बात का कोई संकेत नहीं है कि यह ग्रन्थ किस हस्तलिखित प्रति से तैयार किया गया है। प्रस्तुत भल्लटशतकीय संस्करण को तैयार करने में इस ग्रन्थ का उपयोग क प्रति के रूप में किया गया है। इसमें कुल १०८ श्लोक हैं। इसके प्रारम्भ के शब्द इस प्रकार हैं—महाकविभल्लटकृतम् भल्लटशतकम्। युष्माकमम्बरमणेः प्रथमे मयूखाः। पुष्पिका इस तरह है—इति रत्नत्रये भल्लटशतकम् समाप्तम्।

श्रीः

महाकविभल्लटकृतम्

भल्लटशतकम्

तां भवानीं भवानीतक्लेशनाशविशारदाम् ।
शारदां शारदाम्भोदसितसिंहासनां नुमः ।।१।।

अन्वय :— भवानीतक्लेशनाशविशारदां शारदाम्भोदसितसिंहासनां तां भवानीं शारदां दुर्गां पक्षान्तरे सरस्वतीं नुमः ।

श्रीरस्तु

भल्लटशतकव्याख्या :—हरिः । श्रीगणपतये नमः । श्रीगुरुभ्यो नमः अविघ्नमस्तु । श्रीसरस्वत्यै नमः । श्रीदुर्गायै नमः ।

श्यामं महस्तत्कुचभारनम्रं
कामप्रदं कामरिपोरचिन्त्यम् ।
करोम्यहं भल्लटसूक्तिटीकां
बालप्रबोधाय सु ·······।।

श्रीः । प्रारिप्सितग्रन्थ इह खलु सदाचारानुष्ठानमनुकुर्वतास्य व्यपेतान्तरायाभीष्टसिद्धिहेतोरिष्टदेवतानमस्कारस्यावश्यविधेयत्वादाचार्येण तावत् इष्टदेवता नमस्क्रियते । भवानीतक्लेशनाशविशारदां ··· शनोपनीतानामविद्यादीनां क्लेशानां नाशकरणेन विशारदां समर्थां शारदाम्भोदसितसिंहासनां शरन्मेघधवलसिंहासनां देशान्तरे शारदेति सरस्वती कथ्यते । एवम्भूतां तां भवानीं भवस्य पत्नीं नुमः स्तुमः ।

हिन्दी अनुवाद—(दुर्गापक्ष) संसार से प्राप्त होने वाले (अनेक रोगशोकादि) सन्तापों को नष्ट करने में समर्थ तथा शरत्कालीन मेघ के समान श्वेत सिंह के आसन पर विराजमान उन (लोकप्रसिद्ध तथा अलौकिक तेजस्विनी) शिवपत्नी शारदा (दुर्गा या पार्वती) देवी को हम नमस्कार करते हैं ।

(सरस्वतीपक्ष) संसार से प्राप्त होने वाले (अविद्याजन्य) कष्टों का विनाश करने में चतुर और शरत्कालीन मेघ के समान श्वेत सिंहासन (स्वर्णमय या रजतमय श्रेष्ठ राजासन) पर अधिष्ठित सरस्वती देवी को हम नमस्कार करते हैं ।

टिप्पणी—मङ्गलाचरण के इस प्रथम श्लोक में प्रयुक्त भवानी पद का अर्थ दुर्गा तथा शारदा पद का अर्थ सरस्वती है। भवानीं शारदां का अर्थ शिवपत्नी दुर्गा (पार्वती) देवी हो जायेगा। यदि भवानीं च शारदां च इस रूप में पृथक् पृथक् पद माने जायें तो दुर्गादेवी और सरस्वती देवी यह पृथक् पृथक् अर्थ होंगे। ग्रन्थ के आरम्भ में प्रारम्भ किये गये कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए इष्टदेवता या समुचितेष्टदेवता का स्मरण करने की प्राचीन परिपाटी है। महाकवि भल्लट तथा इस ग्रन्थ के टीकाकार महेश्वर इन दोनों ने इस परम्परा का अनुसरण करते हुए दुर्गा और सरस्वती देवी की वन्दना की है। दुर्गापक्ष में इष्टदेवता दुर्गादेवी हैं तथा सरस्वतीपक्ष में सरस्वती समुचितेष्टदेवता (काव्य-निर्माण के समय कवियों द्वारा स्मरणीय काव्यविद्या की उपयुक्त अधिष्ठात्री देवी) हैं।

यहाँ रति नामक स्थायिभाव के साथ तत्सम्बद्ध विभावानुभावसञ्चारिभावों का संयोग हुआ है अतः यहाँ भावध्वनि है। भाव का लक्षण इस प्रकार है—

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः।
भावः प्रोक्तः ·················॥ का०प्र० ३५।

भक्ति को स्वतन्त्र रस मानने वाले आचार्यों के मतानुसार यहाँ पर भक्तिरस है। भवानीं भवानीत तथा विशारदां शारदां इन दोनों स्थलों पर एक सार्थक तथा एक निरर्थक पद की आवृत्ति होने से यमकालङ्कार है। शारदाम्भोदसितसिंहासनाम् में समासगा वाचकलुप्ता उपमा है।

युष्माकमम्बरमणेः प्रथमे मयूखा-
स्ते मङ्गलं विदधतूदयरागभाजः।
कुर्वन्ति ये दिवसजन्ममहोत्सवेषु
सिन्दूरपाटलमुखीरिव दिक्पुरन्ध्रीः ॥२॥

अम्बरमणेः उदयरागभाजः ते प्रथमे मयूखा युष्माकं मङ्गलं विदधतु ये दिवसजन्ममहोत्सवेषु दिक्पुरन्ध्रीः सिन्दूरपाटलमुखीरिव कुर्वन्ति।

अनन्तरमभिलषितवस्तुन्यासं करोति। युष्माकमम्बरमणेः प्रथमे मयूखा इति। अम्बरमणेः उदयरागभाजः उदयसमयसञ्जातलौहित्यसंश्रयिणः प्रथमे तत्पूर्वोदितास्ते तथाविधा मयूखाः किरणाः युष्माकं मङ्गलं कल्याणं विदधतु। दिवसजन्ममहोत्सवेषु दिक्पुरन्ध्रीः सिन्दूरपाटलमुखीरिव कुर्वन्ति। अत्रायमभिप्रायः—यत्र यथा पुत्रजन्ममहोत्सवेषु प्रहृष्टा जना योषितः सिन्दूररेणुना वपुः कुर्वन्ति तथेति।

आकाशमणि-सूर्य की उदयकालीन लालिमा से युक्त वे पहली किरणें तुम्हारा कल्याण करें जो (किरणें) दिवस के जन्मोत्सवों में दिशारूपी स्त्रियों के मुखों को मानों सिन्दूर से लाल कर रही हैं।

यहाँ दिक्पुरन्ध्रीः में रूपक तथा सिन्दूरपाटलमुखीरिव में उत्प्रेक्षा है। सूर्य-देवताविषयक रति होने से भावध्वनि है।

बद्धा यदर्पणरसेन विमर्दपूर्व-
मर्थान्कथं झटिति तान्प्रकृतान् न दद्युः।
चौरा इवातिमृदवो महतां कवीना-
मर्थान्तराण्यपि हठाद् वितरन्ति शब्दाः ॥३॥

यत् अर्पणरसेन विमर्दपूर्वं बद्धा (अतः ते) तान् प्रकृतान् अर्थान् झटिति कथं न दद्युः। (अर्थान्तरवितरकाः) अतिमृदवः चौरा इव महतां कवीनामतिमृदवः शब्दाः अर्थान्तराण्यपि हठात् वितरन्ति।

कविकाव्यप्रशंसापदेशेन चोरप्रमुषितार्थप्रत्याहरणे विमर्दं विनान्यन्न्यायान्तरं न विद्यत इत्याह।

बद्धा यदर्पणरसेन विमर्दपूर्वमिति। यदर्पणरसेन विवक्षितो योऽर्थस्तस्य प्रयोगोचिता अतिमृदवोऽत्यन्तमृदवः महतां कवीनां शब्दास्तान् अर्थान् विवक्षितान् प्रकृतान् प्रस्तुतान् विमर्दपूर्वमालोचनपुरस्सरं कथं झटिति सपदि मनीषिया बुद्धया विमृश्य विमृश्यालोचयन्ति तेषां सर्वदा सपदि दद्युरेव। किंच हठात् प्रसह्य पुनः पुनः विमर्दनेन अर्थान्तराण्यपि च (वितरन्ति) पश्चादन्यानप्यर्थान् प्रबोधयन्ति। यथा चोराः प्रमुषितार्थप्रत्यानयनहेतोर्बद्धा स्वभावधैर्यविहीनत्वाच्चपलप्रकृतयः विमर्दपूर्वं विमर्दपुरस्सरं बध्यमानाः प्रमुषितार्थजातं दत्वा पुनः पुनर्निबध्यमानभयेनार्थान्तराण्यपि हठात्कारेण वितरन्ति तथेति।

क्योंकि (काव्य में महाकवियों द्वारा) ये शब्द रसार्पणसहित निबद्ध किये जाते हैं (अर्थात् ये शब्द रसात्मक बनाकर रखे जाते हैं इसलिए ये) विचारपूर्वक (चिन्तन किये जाकर सामाजिक और आलोचकों को) उन उन प्रस्तुत (वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थरूप उभयविध) अर्थों को तत्काल क्यों न देवें ! दूसरे (गुप्त) धनों को देने वाले धैर्यविहीन चञ्चल स्वभाव वाले बहुत ही कच्चे चोरों की भाँति महाकवियों के बहुत अधिक कोमल शब्द (अनुरणनात्मक ध्वनि से) दूसरे अर्थों को भी बलपूर्वक दे देते हैं।

यहाँ विमर्दपूर्वम् में (विचारपूर्वक तथा ताडनापूर्वक अर्थ होने से) पदश्लेष है। अर्थान् तथा अर्थान्तराण्यपि इन दोनों पदों में भी पदश्लेष है। अर्थ का शब्दार्थ—वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ रूप त्रिविध अर्थ तथा धन है। चौरा इव इस अंश में उपमा है इस प्रकार यहाँ श्लेषानुप्राणित उपमालङ्कार है।

महाकवियों के इन शब्दों से वाच्यार्थ का ज्ञान तो आसानी से हो जाता है किन्तु व्यङ्ग्यार्थों का ज्ञान आलोचनात्मक बुद्धि से ही सम्भव होता है। चोरी के अपराध में जब किसी चोर को रंगेहाथ पकड़ लिया जाता है तो वह उस चुराई वस्तु को तो आसानी से उसी समय दे देता है किन्तु यदि उसे मारा पीटा जाता है तो पहले चुराई हुई वस्तुओं की चोरी स्वीकार करके उन्हें भी वापिस कर देता है। चोर जैसे दबाव में आकर गुप्त धनों को वापिस कर देता है उसी प्रकार शब्द भी विचार के विषय बन जाने पर नानाविध अर्थों को उद्घाटित कर देते हैं।

काचो मणिर्मणिः काचो येषां तेऽन्ये हि देहिनः ।
सन्ति ते सुधियो येषां काचः काचो मणिर्मणिः ॥४॥

येषां काचः मणिः मणिः काचः ते हि देहिनः अन्ये। (वस्तुतः) ते सुधियः सन्ति येषां काचः काचः (एव) मणिः मणिः (एव भवति)।

ये सदसद्विवेके जडा असन्त एव ते ये तु जानन्ति त एव सन्त इत्याह—काचो मणिर्मणिः काच इति। येषां काचः मणिरिव रत्न इव प्रतिभाति मणिरपि काच इव दृश्यते ते अन्ये देहिनो (हस्तचर) णाद्यवयवस्य शरीरभारस्य वोढार एव। न तु किंचित् प्रयोजनं तैः साध्यं येषां काचः काच एव मणिर्मणिरेव प्रतिभाति ते तथाविधाः सुधियो भवन्ति। न सर्वत्र एतदुक्तं भवति येषां दोषा दोषा एव गुणा गुणा एव ते तथाविधा बुद्धिमन्तो विमला भवन्तीति।

जिन व्यक्तियों के लिए शीशा मणि है और मणि शीशा है वे निश्चय ही दूसरे प्राणी हैं (अर्थात् मूर्ख हैं)। (वास्तव में) वे ही बुद्धिमान् हैं जिनके लिए शीशा शीशा (ही) है और मणि मणि (ही) है (अर्थात् जिनकी दृष्टि में दोष दोष ही हैं और गुण गुण ही हैं)।

यहां काचः और मणिः इन दोनों व्यञ्जनसमुदायों की अनेक बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास है। य् तथा त् वर्णों की अनेक बार आवृत्ति होने से भी वृत्त्यनुप्रास है। "अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद् वाप्यनेकधा। एकस्य सकृदप्येष वृत्त्यनुप्रास उच्यते ॥" (सा० द० १०, ४)। यहाँ अप्रस्तुत मणिकाचवृत्तान्त से

प्रस्तुत सगुण निर्गुण व्यक्ति के वृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है। "अप्रस्तुतात्प्रस्तुतं चेद् गम्यते···अप्रस्तुतप्रशंसा स्यात्" (सा०द० १०, ५८-६०)। यहाँ काच शब्द गुणहीन वस्तु और मणि शब्द गुणोपेत वस्तु के अर्थ में सङ्क्रान्त हो गये हैं, इस कारण यहाँ अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य लक्षणामूलध्वनि है।

नन्वाश्रयस्थितिरियं तव कालकूट-
केनोत्तरोत्तरविशिष्टपदोपदिष्टा ।
प्रागर्णवस्य हृदये वृषलक्ष्मणोऽथ
कण्ठेऽधुना वससि वाचि पुनः खलानाम् ॥५॥

(हे) कालकूट! उत्तरोत्तरविशिष्टपदा इयम् आश्रयस्थितिः तव ननु केन उपदिष्टा? प्राक् अर्णवस्य हृदये अथ वृषलक्ष्मणः कण्ठे अधुना पुनः खलानां वाचि वससि।

दुर्जनः किंचित् पदं लभते चेत् पुनरुपर्युपर्यारोढुमीहत एव। नन्वाश्रयस्थिति रियमिति। हे कालकूट कालकूटाख्य महाविष केन तवेयमुत्तरोत्तरविशिष्ट-पदोपदिष्टा उपर्युपर्यभ्यधिककालावकाशा आश्रयस्थितिरवलम्बनहानेनान्यत्र गतिः। कथमिति चेत् प्रागर्णवस्य हृदयेऽभ्यन्तरेऽभ्युषितोऽसि अथ वृषलक्ष्मणः शिवस्य कण्ठे ह्युषितं पुनरधुना खलानां वाचि वससीति एतदुक्तं भवति··· सोढुं शक्यं न दुर्जनवचनमिति।

अरे हलाहल विष! एक के पश्चात् दूसरे उत्कृष्ट पद (को प्राप्त कराने) वाली (इस ऊँचे स्थान में) रहने वाली विधि का तुझे किसने उपदेश दिया है? पहले तुम समुद्र के हृदय में (रहते थे), फिर शिव के कण्ठ में रहने लगे और अब तो तुम दुष्टों की वाणी में बसते हो।

यहाँ कालकूट विष नामक एक वस्तु की स्थिति समुद्रादि अनेक आधारों में बताई गई है अतः यहाँ पर्यायालङ्कार है। आचार्य मम्मट ने भी इसे पर्यायालङ्कार के उदाहरण में रखा है (का० प्र० १०, ५१४)। इस अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार है—एकं क्रमेणानेकस्मिन् पर्यायः (का०प्र० १०, ११७)।

द्रविणमापदि भूषणमुत्सवे
शरणमात्मभये निशि दीपकः ।

बहुविधाभ्युपकारभरक्षमो
भवति कोऽपि भवानिव सन्मणिः ॥६॥

(हे सत्पुरुष !) बहुविधाभ्युपकारभरक्षमः भवान् इव (सः) कोऽपि सन्मणिः भवति (यः) आपदि द्रविणम्, उत्सवे भूषणम्, आत्मभये शरणम् निशि दीपकः (जायते)।

एवं दुर्जनं गर्हयित्वा सज्जनं श्लाघते। द्रविणमापदीति। सन्मणिः महारत्नम् आपदि द्रविणं भूषणमुत्सवे भवति। आत्मनो भये सर्पपिशाचादिके समुपस्थिते शरणं भवति। रात्रिषु ग्रहपिशाचाहिभयं निशातमोनिरसनेन प्रभवति। एवं बहुविधस्याभ्युपकारभरस्याभितोभूतस्य सर्वतोजातस्य उपकारस्य क्षमो यथा भवति तथा भवानिव कोऽपि यः कश्चित् पुरुषः पुरुषाणामाश्रयः भवति व्यसनं स्वांशेन प्रतिकरोति, उत्सवे सन्निधानेन प्रकाशयति अभयदो निशि निशाकरे निष्प्रभयति एवं बहुविधाभ्युपकारकरणे इति।

(हे सज्जन पुरुष) अनेक प्रकार के उपकार करने में समर्थ आपकी तरह वह कोई ही श्रेष्ठ मणि होती है जो आपत्ति में धन, उत्सव में भूषण, आत्मभय (के अवसर) में शरण तथा रात में दीपक (बन जाती) है।

यहाँ बहुविधाभ्युपकारभरक्षमः इस विशेषण के राजपक्ष और मणिपक्ष में समान होने से अर्थश्लेष है। भवानिव सन्मणिः इस अंश में प्रसिद्ध उपमान सन्मणि को उपमेय बता देने से प्रतीपालङ्कार है। कोऽपि भवानिव सन्मणिः का अर्थ आपकी तरह कोई ही सन्मणि होती है, प्रत्येक नहीं। आप सन्मणि के सदृश हैं और सन्मणि आपके सदृश है इस भाँति तृतीयसदृशव्यवच्छेद होने से उपमेयोपमालङ्कारध्वनि है। इन वाच्यालङ्कारों से सज्जनप्रशंसारूपवस्तुध्वनि की भी अभिव्यक्ति हो रही है। एक ही वस्तु सन्मणि का द्रविण आदि बहुतसी वस्तुओं के साथ सम्बन्ध कहा है इसलिए उल्लेखालङ्कार भी है।

श्रीर्विशृङ्खलखलाभिसारिका
वर्त्मभिर्घनतमोमलीमसैः।
शब्दमात्रमपि सोढुमक्षमा
भूषणस्य गुणिनः समुत्थितम् ॥७॥

घनतमोमलीमसैः वर्त्मभिः (यान्ती) विशृङ्खलखला श्रीः अभि-

सारिका गुणिनः भूषणस्य समुत्थितं शब्दमात्रमपि सोढुम् अक्षमा (भवति)।

अथ लक्ष्मीं विडम्बयति। श्रीर्विश्रृङ्खलखलाभिसारिकेति। घनतमोमलीमसैः निरन्तरपापमलिनैर्मार्गैर्यथाभिसारिका विश्रृङ्खलं निर्नियन्त्रणं खलानधमान् श्रीरपि खलानभिसरति तथा चाभिसारिका गुणिनः सूत्रवतो भूषणस्य हारनूपुरादेः शब्दमात्रमपि सोढुमक्षमा भवति। तथा श्रीरपि अलङ्कारभूतमात्रमपि सोढुमक्षमासमर्था गुणिनः शब्दमात्रेण पलायते खलं स्वयमेव अभिसरतीति।

लक्ष्मीपक्ष—प्रभूत पापों से मलिन मार्गों से जाने वाली, उच्छृङ्खल होकर दुष्ट (नीच) पुरुषों के साथ सम्बन्ध रखने वाली लक्ष्मीरूपी वेश्या (समाज के) आभूषण बने हुए गुणी सत्पुरुष से उत्पन्न हुई (कल्याणार्थ कही गई) छोटी सी उक्ति को भी सहन नहीं कर पाती है।

वेश्यापक्ष—निविड अन्धकार से अथवा बादलों के अन्धकार से काले हुए मार्गों से जाने वाली तथा उच्छृङ्खलता के साथ चरित्रहीन व्यक्तियों के साथ रमण करने वाली वेश्या सूत्र वाले अर्थात् धागे में पिरोये गये किसी आभूषण से उठी हुई छोटी सी आवाज़ को सहन करने में अपने को असमर्थ पाती है।

यहाँ श्री और अभिसारिका के विशेषणों में श्लेष है। सावयव उपमेय श्री के ऊपर सावयव उपमान लक्ष्मी का आरोप हुआ है इसलिए यहाँ श्लेषानुप्राणित साङ्गरूपक है। यहाँ श्री शब्द धनवान् व्यक्तियों का उपलक्षण है अतः यहाँ रूढिमूला उपादानलक्षणा है।

मानं नेच्छति वारयत्युपशमे क्ष्मामालिखन्त्यां ह्रियां
स्वातन्त्र्ये परिवृत्य तिष्ठति करौ व्याधूय धैर्ये गते।
तृष्णे त्वामनुबध्नता फलमियत्प्राप्तं जनेनामुना
यः स्पृष्टो न पदा स एव चरणौ स्प्रष्टुं न सम्मन्यते ॥८॥

माने न इच्छति, उपशमे वारयति, ह्रियां क्ष्मामं आलिखन्त्याम्, स्वातन्त्र्ये परिवृत्य तिष्ठति, करौ व्याधूय धैर्ये गते (हे) तृष्णे त्वाम् अनुबध्नता अमुना जनेन इयत् फलं प्राप्तं (यत् पूर्वं) यः पदा न स्पृष्टः स एव चरणौ स्प्रष्टुं न सम्मन्यते।

कश्चिद् तृष्णातिशयेनानुचितकरणे प्रवृत्तोप्यलब्धधनोऽब्रवीत्। माने नेच्छति

वारयत्युपशमे इति। तृष्णे त्वामहमनुबध्नामीति मया यदा कृतमासीत् तदा मानश्च मत्सरः। माने नेच्छति नियतं मा गच्छेति निवारयति निरुन्धति स्वातन्त्र्यमिति मां त्यक्त्वा गन्तुं प्रवृत्ते सति उपशमे चिरकालाभ्यस्तश्रुतसञ्जाते मा गच्छ मा गच्छेति निवारयति निरुन्धति सति, ह्रियां लज्जायां पुरुषाणामलंकारभूतायां कथमयमेवंभूतां विपत्तिमनुभवतीति क्ष्मां भुवमधोमुखीभूय लिखन्त्यां सत्यां, स्वातन्त्र्ये च परोपजीविताय विपरीते परिवृत्य पराङ्मुखीभूय तिष्ठति सति धैर्ये गाम्भीर्ये करौ व्याधूय व्यसनातिशयेन हस्तविधूननं कृत्वा गते सति सर्वानितानवज्ञाय त्वामेवानुगच्छताऽनुबध्नतानुसरताऽमुना जनेन फलमियदेतावन्मात्रमेव प्राप्तं लब्धं पूर्वं यः पदा न स्पृष्टः यः पदेनापि न स्पृष्टः कुत्सार्यै जायते स एव चरणौ स्प्रष्टुं न सम्मन्यते स स्वचरणयोर्मया स्प्रष्टुं समीपतया[1] नानुमतिं करोति किंचिद्विगर्हयत्येवेति।

जब (मेरे) स्वाभिमान ने स्वीकार नहीं किया, शान्त भाव ने मना किया, (मेरी स्थिति पर) जब लज्जा (लज्जित होकर) भूमि कुरेदने लगी, जब (मेरी) स्वाधीनता ने मुख मोड़ लिया और जब हाथ पटक पटक कर (मेरा) धैर्य चला गया तब हे तृष्णे! तुम्हारा अनुगमन करने पर मुझे यही फल मिला है कि जिस (पुरुष) को मैं पैरों से भी नहीं छूता था वह अब चरण छूने की अनुमति भी नहीं देता। (अर्थात् जिस को निकृष्ट समझ कर मैं पैरों से भी नहीं छूता था, आज तृष्णा के वशीभूत होकर उसके पैर छू रहा हूँ परन्तु वह फटकार रहा है।)

यहाँ इष्ट (धन) की अप्राप्ति तथा अपमान रूप अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति होने से विषमालङ्कार है।

पततु वारिणि यातु दिगन्तरं
विशतु वह्निमथ व्रजतु क्षितिम्।
रविरसावियतास्य गुणेषु का
सकललोकचमत्कृतिषु क्षतिः ॥९॥

असौ रविः वारिणि पततु, दिगन्तरं यातु, वह्निं विशतु, अथ क्षितिं व्रजतु। इयता अस्य सकललोकचमत्कृतिषु गुणेषु का क्षतिः?

उत्तमस्यानुचितव्यसनापत्तावपि न कदाचित् स्वभावहानिर्भवतीत्याह—पततु वारिणीति। वारिण्यपरसागरसलिले पततु। दिगन्तरं वा यातु वह्निं वा विशतु। दिनान्ते स्वतेजो रविर्वह्नौ निक्षिपतीति लोकवादः। अथो अथवा क्षितिं

व्रजतु । भूमौ निमग्नो भवतु । भूमिशब्देन भूम्यधोगतरसातलं प्रतीयते । रवि-रसावेवमेव भवतु । तथाप्यन्य (स्य) गुणेषु का क्षतिः । हानिर्न कदाचिदपीति । के गुणा इति चेत् सकललोकानां चमत्कृतयः सम्भावनास्ता एव गुणास्तेष्वेवेति ।।

यह सूर्य चाहे समुद्र में जा गिरे, चाहे दूसरी दिशा को चला जाए, चाहे आग में गिरे और चाहे भूमि के नीचे जाए, इतने से सारे संसार को चमत्कृत करने वाले इसके गुणों की क्या हानि है ?

भाव यह है कि प्रतापशाली उत्तम मनुष्य कहीं भी जाए, कैसी भी आपत्ति में पड़े, दूसरों को अपने गुणों से चमत्कृत कर देता है। यहाँ अप्रस्तुत रवि-वृत्तान्त वाच्य है और उससे प्रस्तुत व्यङ्ग्य सज्जनवृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है ।

सद्वृत्तयः सदसदर्थविवेकिनो ये
ते पश्य कीदृशममुं समुदाहरन्ति ।
चौरासतीप्रभृतयो ब्रुवते यदस्य
तद् गृह्यते यदि कृतं तदहस्करेण ।।१०।।

ये सद्वृत्तयः सदसद्विवेकिनः ते अमुं कीदृशम् समुदाहरन्ति (इति) पश्य । चौरासतीप्रभृतयः यदस्य ब्रुवते तद् यदि गृह्यते तत् अहस्करेण कृतम् ।

यं सन्तः स्तुवन्ति निन्दन्त्यसन्तः स एव यशस्वीत्याह—सद्वृत्तय इति । सद्वृत्तयः सद्व्यापाराः । सदसदर्थविवेकिनः सदिदमसदिदमिति ये विवेक्तुं शक्नुवन्ति ते कीदृशं कीदृग्भूतममुमादित्यं समुदाहरन्ति स्तुवन्ति । तत्पश्य विमृश । चोरासतीप्रभृतयो यदस्य ब्रुवते तन्न ग्राह्यमिति ।

जो लोग श्रेष्ठ आचरण करते हैं तथा अच्छे बुरे का विवेक रखते हैं वे इस (सूर्य) के विषय में क्या कहते हैं यह देखो। चोर तथा दुष्टा स्त्रियाँ इसके बारे में जो कहती हैं वह मानने पर तो सूर्य कहीं का नहीं रहेगा ।

भाव यह है कि किसी उच्चात्मा के विषय में ठीक ठीक जानने के लिए विद्वान् सज्जनों की राय को महत्त्व देना चाहिए, स्वार्थी दुष्टों की राय को नहीं । चोर और दुष्ट स्त्रियाँ तो अपने दुष्कृत्यों में बाधक होने के कारण सूर्य की निन्दा करते हैं ।

यहा अप्रस्तुत वाच्य सूर्यवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य सज्जन प्रशंसा की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है।

पातः पूष्णो भवति महते नोपतापाय यस्मात्
काले प्राप्ते क इह न ययुर्यान्ति यास्यन्ति वाऽन्तम् ।
एतावत्तु व्यथयतितरां लोकबाह्यैस्तमोभि-
स्तस्मिन्नेव प्रकृतिमहति व्योम्नि लब्धोऽवकाशः ॥११॥

पूष्णः पातः महते उपतापाय न भवति यस्मात् इह काले प्राप्ते के (अस्तं) न ययुः (न) यान्ति (न च यास्यन्ति। किन्तु) एतावत् तु (अस्मान्)व्यथयतितराम् (यत्)लोकबाह्यैः तमोभिः तस्मिन् एव प्रकृति-महति व्योम्नि अवकाशः लब्धः (यस्मिन् पूर्वं सूर्यः स्थिरः आसीत्)।

उत्तमगुणविनाशस्तथा न व्यथयति यथा दुर्जनोन्मेष इत्याह—पातः पूष्णो भवतीति। पात इत्यादि। पूष्ण आदित्यस्य पातोऽस्तमयो महते निष्प्रतीकारा-योपतापाय मनोदुःखाय न भवति। यस्माद्धेतोः काले प्राप्ते फलोन्मुखे सति क इव के वा अस्तं न ययुः। अस्तं न यान्ति नास्तं यास्यन्ति च। तस्मादिति एतावन्मात्रमेव व्यथयतितराम्। लोकबाह्यैः सर्वलोकबहिर्भूतैः तम(ोभि)स्तस्मि-न्नेव प्रकृतिमहति स्वभावत एव प्रथितमहिम्नि व्योम्नि गगने अवकाशो लब्ध इति यत् तदेतावन्मात्रमेव व्यथयतीति ॥

सूर्य का पतन (अस्त होना बहुत) बड़े कष्ट के लिए नहीं है (अर्थात् इससे हम अधिक दुःखी नहीं हैं) क्योंकि इस संसार में (मृत्यु) समय आने पर कौन अवसान को प्राप्त नहीं हुए, नहीं हो रहे हैं अथवा नहीं होंगे (अर्थात् सभी की यही दशा होती आ रही है और होगी परन्तु) इतनी बात तो (हमें) अत्यधिक पीड़ित करती है कि (इस) संसार से बाहर निकाले हुए अन्धकारों के द्वारा उसी स्वभाव से महान् आकाश में (अपना) स्थान बना लिया गया है (जिसमें पहले सूर्य प्रतिष्ठित था)।

ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ महाकवि भल्लट कश्मीर के यशस्वी एवं लोकप्रिय राजा अवन्तिवर्मा की मृत्यु के अनन्तर सिंहासनारूढ शङ्करवर्मा के राज्य की दुर्दशा से खिन्न होकर ऐसा लिख रहे हैं। यहाँ अप्रस्तुतवाच्य रवितमोवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य प्राचीन एवं नवीन राजवृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है।

पङ्क्तौ विशन्तु गणिताः प्रतिलोमवृत्त्या
पूर्वे भवेयुरियताप्यथवा त्रपेरन् ।
सन्तोऽप्यसन्त इव चेत् प्रतिभान्ति भानो-
र्भासाऽऽवृते नभसि शीतमयूखमुख्याः ॥१२॥

भानोर्भासा नभसि आवृते (सति) शीतमयूखमुख्याः (अन्ये ग्रहाः नक्षत्राणि च) सन्तः अपि असन्त इव प्रतिभान्ति । पङ्क्तौ चेत् (ते) विशन्तु (तर्हि) प्रतिलोमवृत्त्या पूर्वे भवेयुः । अथवा इयताऽपि ते (किं) त्रपेरन् ?

अधमानानामत्यन्तसम्भावितानामपि न कदाचिदुत्तमप्रकृतिता भवतीत्याह —पङ्क्तौ विशन्त्विति । भानोर्भासावृते परिवीते नभसि शीतमयूखमुख्याश्चन्द्राद्या अन्ये नक्षत्रताराग्रहाः सन्तोपि भवन्तोपि असन्त इव प्रतिभान्ति प्रकाशन्ते चेत् ते पङ्क्तौ सूर्यादिभिरधिष्ठतायां वीथ्यां विशन्तु । अन्तर्गता भवन्तु । प्रतिलोमवृत्त्या प्रतीपवृत्त्या केतुराहुमन्दादिस्वरूपया गणिताः संख्याताः पूर्वे पुरःस्था भवेयुः । अथवा तथापि इयतैतावन्मात्रेणापि किं त्रपेरन् लज्जाभिभूताः किं भवन्ति ? किमिति अध्याहार्यम् । सर्वथा न लज्जिता भवेयुरिति । सन्त इति न चित्राणि सूच्यन्ते । अयमर्थः । उत्तमसंनिधावधमा जीवन्मृता एव तथा निस्त्रपतया सद्भिः सहैव पङ्क्तावुपविशन्ति । यो योऽधमस्तं तमारभ्य गणिताः पुरस्था भवन्ति । एतावन्मात्रमपि सम्भावनां मन्वाना न लज्जिताः कथं भवेयुरिति ॥

सूर्य के तेज से आकाश के व्याप्त हो जाने पर चन्द्रादि (दूसरे दूसरे नक्षत्र) होते हुए भी न होते हुओं की तरह प्रकाशित होते हैं (अथवा प्रतीत होते हैं)। परन्तु यदि वे (सूर्यादि बड़े ग्रहों की) श्रेणी में प्रवेश पा लेवें तो उल्टे क्रम से (केतु, राहु, शनैश्चर, मङ्गल, चन्द्रादि, रूप में) गिने हुए वे अगले-अगले हो जाते हैं फिर भी (क्या) वे इतने मात्र से (अर्थात् पिछड़े होने पर आगे आगे गिने जाने पर) लज्जित होते हैं ? (बिल्कुल भी वे शर्मिन्दा नहीं होते)।

महाकवि भल्लट ने यहाँ यह बतलाया है कि सूर्य की उपस्थिति में अर्थात् दिन में तो चन्द्रादि नक्षत्र चमकते ही नहीं हैं, रात में भी यदि चन्द्र प्रकाशित होता है तो सूर्य के ही प्रकाश से चमकता है । किन्तु सूर्य के साथ ही चन्द्र, राहु, केतु और शनैश्चरादि नक्षत्रों की चमकने वालों में गणना होती है और इनको भी महत्त्वपूर्ण मान लिया जाता है । यदि कहीं उल्टे क्रम से नक्षत्रों की गणना होती है अर्थात् छोटे राहु, केतु आदि नक्षत्रों का नाम पहले तथा सूर्य का नाम बाद में लिया जाता है तो ये नक्षत्र अपने को ऊँचा समझते हैं । इसी प्रकार

उत्तम काट के पण्डितों की उपस्थिति में मूर्ख पण्डितों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है परन्तु उनको भी जब अन्य प्रकाण्ड पण्डितों के साथ सम्मान दिया जाता है तो वे अपने आपको सचमुच का पण्डित मानकर अभिमानी बन जाते हैं। सम्मान पाकर वे लज्जित न होकर गौरवान्वित होते हैं।

यहां अप्रस्तुत वाच्य सूर्यचन्द्रवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य उत्तमाधमपुरुष-वृत्तान्त की प्रतीति (सादृश्य के आधार पर) हो रही है। अतः यहाँ अप्रस्तुत-प्रशंसा अलङ्कार है।

गते तस्मिन् भानौ त्रिभुवनसमुन्मेषविरह-
व्यथां चन्द्रो नेष्यत्यनुचितमतो नास्त्यसदृशम् ।
इदं चेतस्तापं जनयतितरामत्र यदमी
प्रदीपाः संजातास्तिमिरहतिबद्धोद्धुरशिखाः ॥१३॥

तस्मिन् भानौ गते त्रिभुवनसमुन्मेषविरहव्यथां चन्द्रो नेष्यति अतः अनुचितम् असदृशं नास्ति। इदं चेतस्तापं जनयतितरां यत् अत्र अमी प्रदीपाः तिमिरहतिबद्धोद्धुरशिखाः सञ्जाताः॥

उत्तमकल्पेनाप्यपनेतुमशक्यामुत्तमविरहव्यथामत्यन्तमधमोऽपनेतुं कथं शक्नोतीत्याह—गते तस्मिन्निति। तस्मिन् तथाविधमहाप्रभावे भानौ गते अस्तमिते त्रिभुवनस्य समुन्मेषः प्रादुर्भावः। तद्विरहेणाभावेन जातां पीडां चन्द्रो नेष्यतीति यदतः परं सर्वेषामनुचितमसाम्प्रतं नास्ति। तथापीदं वक्ष्यमाणं चेतस्तापं जनयतितराम्। किमिति चेत् अत्र त्रिभुवने प्रदीपास्तिमिरहतिबद्धोद्धुरशिखा जाताः। तमोनिरसनहेतोर्जनितोद्धतज्वालास्सम्भूता इति चेत् इदं चेतस्तापं जनयति।

उस सूर्य के अस्त हो जाने पर तीनों लोकों की उत्पन्न हुई विरहपीडा को चन्द्रमा दूर कर देगा—इस कथन से बढ़कर अनुचित और गलत बात कोई नहीं परन्तु इस सम्बन्ध में यह बात तो मन को और भी पीड़ित करती है कि अब यहाँ ये छोटे-छोटे दीपक ही अन्धकार को दूर करने के लिए अपनी बड़ी मोटी चोटी बाँध रहे हैं (उद्यत हो रहे हैं)।

यहाँ अप्रस्तुत वाच्य भानुचन्द्रप्रदीप वृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य उत्तम-मध्यमाधमपुरुष वृतान्त की प्रतीति होने से (सम से सम की प्रतीति रूप) अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है।

सूर्यादन्यत्र यच्चन्द्रे-ऽप्यर्थासंस्पर्शि तत्कृतम् ।
खद्योत इति कीटस्य नाम तुष्टेन केनचित् ॥१४॥

केनचित् तुष्टेन (जनेन खद्योताभिधस्य) कीटस्य खद्योत इति तत् नाम् कृतं यत् सूर्यादन्यत्र चन्द्रेऽप्यर्थासंस्पर्शि (विद्यते)।

गुणदोषविवेचनशक्तिरहितोऽयं पक्षपातेन यं कञ्चिदवशमनवद्यगुणं मत्वा तदुचितेन संस्कारेण संस्करोति। तं प्रत्याह—सूर्यादन्यत्रेति। खम् आकाशं प्रकाशयतीति खद्योतः सूर्य एव। तस्मात्सूर्यादन्यत्र यच्चन्द्रेऽप्यर्थासंस्पर्शि खद्योतताभावादसंगातार्थं तत् खद्योत इति नाम। तुष्टेन पक्षपातिना केनापि कस्यापि कीटस्य कृमेर्ज्योतिरिङ्गणाख्यस्य कृतं न गुणापेक्षया केवलं पक्षपात-मात्रेण कृतमिति।

किसी पक्षपाती (चाटुकार पुरुष ने खद्योत नाम के) एक कीड़े का खद्योत (आकाश को चमकाने वाला) इस रूप में वह नाम रख दिया है जो (ऊँचा नाम तो) सूर्य को छोड़कर अन्य किसी में (यहाँ तक कि) चन्द्रमा में भी अपने अर्थ को नहीं छूता (है) (अर्थात् खद्योत का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ तो चन्द्र पर भी नहीं लागू होता है)।

खम् जाकाशं द्योतते प्रकाशयति इति खद्योतः—यह व्युत्पत्ति केवल सूर्य पर ही घटती है। चन्द्र शब्द की व्युत्पत्ति 'चन्द्रयति आह्लादयति इति चन्द्रः इस रूप में ही सम्भव है। इस कारण खद्योत का व्युत्पत्तिनिमित्तक अर्थ केवल सूर्य पर ही घट सकता है चन्द्रमा पर नहीं। चन्द्रमा केवल रात को ही आकाश को चमका सकता है दिन में नहीं।

यहाँ खद्योत पद का अपने प्रसिद्ध जुगनू अर्थ में अपह्नव करके सूर्य-चन्द्रादि में इस पद के अर्थ की स्थापना होने से यहाँ पर्यस्तापह्नुति है। साथ ही अप्रस्तुत वाच्य सूर्यचन्द्रखद्योतवृत्तान्त से प्रस्तुत उत्तममध्यमाधमपुरुष वृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार भी है। दोनों अलङ्कारों का एक ही स्थान पर प्रवेश होने से यहाँ एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर है।

कीटमणे दिनमधुना तरणिकरान्तरितचारुसितकिरणम् ।
घनसन्तमसमलीमसदशदिशि निशि यद्विराजसि तदन्यत् ॥१५॥

कीटमणे ! तदन्यत् यत् घनसन्तमसमलीमसदशदिशि निशि विराजसि। अधुना तरणिकरान्तरितचारुसितकिरणं दिनम् (अस्ति)।

कापुरुषाणामुत्तमसन्निधौ न प्रादुर्भावः। तदसन्निधावेव समुन्मेष इत्याह—कीटमणे इति। कीटमणे खद्योत। घनसन्तमसमलीमसदशदिशि निरन्तरान्धकारमलिनितदशदिशां मुखे निशि प्रदोषे विराजसि। यत् तदन्यत् तत् ते गुणोपचयकारणं न भवति। विचार्यमाणे क्षुद्रत्वप्रकाशकमेव। यस्मादन्धकारसन्निधौ समुन्मेषो न तेजस्सन्निधौ। तस्मादधुना तरणिकरान्तरितसितकिरणं सूर्यमरीचितिरस्कृतचन्द्रं दिनं जातम्। तस्मात् त्वया रात्राविवोन्मिषितुं न शक्यमिति।

अरे जुगनू ! वह बात और है जो तुम गहरे अन्धकार से अँधेरी हुई दशों दिशाओं वाली रात में चमक लेते हो। अब तो सूर्य की किरणों से सुन्दर चन्द्रमा को छिपा देने वाला दिन है। (अब यहाँ तुम्हारी दाल नहीं गलेगी)।

यहाँ र्, द्, क्, म् और श् इन वर्णों की अनेक बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास अलंकार है। अप्रस्तुत वाच्य सूर्यकीटमणिवृत्तान्त से प्रस्तुत उत्तमाधमपुरुषवृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा है।

सत्त्वान्तःस्फुरिताय वा कृतगुणाध्यारोपतुच्छाय वा
तस्मै कातरमोहनाय महसो लेशाय मा स्वस्ति भूत्।
यच्छायाच्छुरणारुणेन खचता खद्योतनाम्नामुना
कीटेनाहितया हि जङ्गममणिभ्रान्त्या विडम्ब्यामहे॥१६॥

सत्त्वान्तःस्फुरिताय वा, कृतगुणाध्यारोपतुच्छाय वा, कातरमोहनाय महसो लेशाय तस्मै (ज्ञानलवदुर्विदग्धाय) स्वस्ति मा भूत्। यत् छाया छुरणारुणेन खचता अमुना खद्योतनाम्ना कीटेन आहितया जङ्गममणिभ्रान्त्या हि (वयं) विडम्ब्यामहे।

यस्तु निर्मूलेन पल्लवग्राहिणा श्रुतेन स्वल्पेनाविर्भावमात्रेण सञ्जातलेपः वर्तते तमुद्दिश्याह—सत्त्वान्तःस्फुरितायेति। सत्त्वं सद्भावमात्रं तत्प्रमाणस्य स्वल्पशरीरस्यान्तर्मनसि स्फुरितया विततसम्भावनया वा समुच्चयार्थे कृतगुणाध्यारोपतुच्छाय कृतो गुणानामध्यारोपः स्वतः सिद्धत्वाभावात् प्रसह्य समायोजनं तेन तुच्छाय लघुभूताय। वा शब्दः पूर्ववत्। अत एव कातराणां प्राकृतानां मोहनाय

मोहनकराय महसो लेशाय तेजसो लवाय वा यत्स्वास्ति तत् सद्भावो माभूत्। यस्य तेजसो लवस्य छाया दीप्तिस्तस्याश्च्छुरणेनारुणेन रक्तेन खचता स्फुरता खद्योतनाम्नामुना कीटेनाहितया कृतया जङ्गममणिभ्रान्त्या बुद्धिमोहेन वयं विडम्बामहे। वयमिति वाक्यशेषः। अयमर्थः। सत्त्वेन सद्भावेनान्तः स्फुरितमथवा कृतगुणाध्यारोपतुच्छं वा यन्महस्तस्यापि यो लेशः। कातरान् मोहयति। तस्य सद्भावो मा भूत्। तथाविधस्य तेजोलेशस्य नाश एव भवतु। यस्य तेजोव्यतिकरलोहितः स्फुरन्नयं खद्योतनामा कृमिरस्माकमपि जङ्गमरत्ने उद्भ्रान्तिं विडम्बनं करोतीति।

ज्ञान की सत्तामात्र से अर्थात् अल्पज्ञान से प्रकाशित अन्तःकरण वाले और (वास्तविक गुणों के न होने पर भी) अपने ऊपर गुणों का आरोप करने वाले, हीन (छोटे और मूर्ख) व्यक्तियों को (ही) आकर्षित करने वाले उस (ज्ञानलवदुर्विदग्ध ढोंगी) थोड़े तेज वाले असत्पुरुष का कल्याण न हो। क्योंकि (थोड़ी सी) दीप्ति के सम्पर्क मात्र से प्रकाशमान इस खद्योत नाम के कीड़े से उत्पन्न चलती फिरती मणि की भ्रान्ति से हम लज्जित एवं अपमानित हुए हैं।

यहाँ अप्रस्तुतवाच्य मणिकीटवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य विद्वन्मूर्खवृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है। साथ ही पहले मूर्ख में पण्डित होने का सन्देह है और बाद में उसके मूर्ख ही होने का निश्चय हो गया है। इस प्रकार इस श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा और निश्चयान्त सन्देह का एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर है।

दन्तान्तकुन्तमुखसन्ततपातघात-
सन्ताडितोन्नतगिरिर्गज एव वेत्ति।
पञ्चास्यपाणिपविपञ्जरपातपीडां
न क्रोष्टुकः श्वशिशुहुङ्कृतिनष्टचेष्टः ॥१७॥

दन्तान्तकुन्तमुखसन्ततपातघातसन्ताडितोन्नतगिरिः गज एव पञ्चास्यपाणिपविपञ्जरपातपीडां वेत्ति, श्वशिशुहुङ्कृतिनष्टचेष्टः क्रोष्टुकः न (जानाति)।

धीर धीर एव वेत्ति न मूर्ख इत्याह—दन्तान्तकुन्तमुखेति। दन्तान्तो दन्ताग्रं तदेव कुन्तमुखं प्रासाग्रं तस्य सन्ततपातेनाविच्छिन्नसन्तानेन घातेन हननेन सन्ताडितो अभिहत उन्नतो गिरिर्येन स एव गजः पञ्चास्यस्य सिंहस्य

पाणिरेव पविः कुलिशं तस्य पञ्जरं समूहम्। तत्पातेन जनितां पीडां वेत्ति। श्वशिशुः सारमेयपोतस्तस्य हुङ्कृत्या नष्टचेष्टः किंकर्तव्यविमूढः क्रोष्टा शृगालो न वेत्तीति।

दाँतों की नोकरूपी भाले के सिरे से निरन्तर चोट करके ऊँचे पर्वत पर प्रहार करने वाला हाथी ही सिंह के पंजेरूपी वज्रपञ्जर में पड़ने की पीड़ा को जानता है; कुत्ते के पिल्ले के भौंकने मात्र से जिसका होश उड़ जाता है वह गीदड़ नहीं जान पाता है।

यहाँ न्, त्, प् आदि वर्णों की अनेक बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास अलङ्कार है। तथा असादृश्यनिबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है।

अत्युन्नतिव्यसनिनः शिरसोऽधुनैष
स्वस्यैव चातकशिशुः प्रणयं विधत्ताम्।
अस्यैतदिच्छति यदि प्रततासु दिक्षु
ताः स्वच्छशीतमधुराः क्व नु नाम नापः॥१८॥

एष चातकशिशुः अत्युन्नतिव्यसनिनः स्वस्य शिरसः एव अधुना प्रणयं विधत्ताम्। यदि एतत् इच्छति तर्हि प्रततासु दिक्षु स्वच्छशीत-मधुराः ताः आपः क्व नु नाम अस्य न (भवेयुः)?

मनस्वी पुरुषो निजोदरपूरणाय न कस्यापि नतिं करोतीत्याह—अत्युन्नतीति। एष चातकशिशुः। अत्युन्नतिव्यसनिनः सर्वदा समुन्नतिमेव कर्तुं व्यसनं यस्य न कदाचिदपि अवनतिं तस्यैव स्वशिरसः प्रणयं याचनं विधत्ताम्। हे शिरो भवता प्रणम्यताम्। इति याचितमस्यैव चातकशिशोरेव शिरोवन्नतिं कर्तुं यदीच्छति। प्रततासु विस्तृतासु दिक्षु सुप्रसन्ना मधुराश्चापः क्व नु नाम न सम्भवन्ति? सर्वत्र सम्भवन्त्येव। एतदुक्तं भवति मनस्वी मानं विहायावनतिं करोति चेत् सर्वत्र लोके सुलभमेव जीवनं तथापि मनस्वी न करोत्यवनतिं मरणमेव कर्तुम् अध्यवस्यतीति।

यह चातक का छोटा बच्चा बहुत अधिक ऊँचे रहने (स्वाभिमानपूर्वक रहने) के अभ्यास वाले अपने सिर से ही अन्न (सब प्रकार की) याचना करे (और किसी से कुछ न मांगे)। यदि यह (सिर झुकाकर अपना स्वाभिमान छोड़कर लेना) चाहे तो फैली हुई दिशाओं में निर्मल, शीतल और मीठे वे जल भला इसके लिए कहाँ नहीं होंगे? (अर्थात् सब जगह मिलेंगे)।

अभिप्राय यह है कि यदि मनस्वी व्यक्ति अपना स्वाभिमान छोड़कर झुक जाता है तो पेट भरने के लिए उसको आजीविका कहीं भी मिल जाती है। परन्तु ऐसा करने से उसकी अवनति ही होती है। इसलिए ऐसा मनस्वी व्यक्ति अपना स्वाभिमान नहीं छोड़ता है भले ही उसे मृत्यु का वरण क्यों न करना पड़ जाय। सिर से ही याचना करने का अभिप्राय यह है कि किसी से याचना करते समय अपने स्वाभिमान का ध्यान रखना चाहिए।

यहाँ अप्रस्तुत चातकशिशुवृत्तान्त से प्रस्तुत मनस्विवृत्तान्त की प्रतीति होने से सादृश्यनिबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा है।

सोऽपूर्वो रसनाविपर्ययविधिस्तत्कर्णयोश्चापलं
दृष्टिः सा मदविस्मृतस्वपरदिक् किं भूयसोक्तेन वा।
इत्थं निश्चितवानसि भ्रमर हे यद्वारणोऽद्याप्यसा-
वन्तः शून्यकरो निषेव्यत इति भ्रातः क एष ग्रहः ॥१६॥

सः अपूर्वः रसनाविपर्ययविधिः, कर्णयोः तत् चापलं, मदविस्मृतस्वपरदिक् सा दृष्टिः। भूयसा उक्तेन वा किम्? हे भ्रमर! (एवं विधोऽपि जन्तुः सेव्यः) इत्थं (किमर्थं) निश्चितवानसि? भ्रातः, यत् अन्तः शून्यकरः असौ वारणः अद्यापि निषेव्यते इति क एष ग्रहः?

अनुचितविवादी दोषश्रावी दोषवशादविज्ञातशत्रुमित्रभेदो विरक्तः कदर्यश्च प्रभुर्न सेव्य इत्याह—सोऽपूर्व इति। अपूर्वो रसनाविपर्ययविधिः स एव आत्मन एवासाधारणतालुविपरिवृत्तिविधिः। तथाविध एव कर्णयोरपि चापलं तथाविधं मदविस्मृतस्वपरदृक् दृष्टिः सा मदावेशेनानवगतनिजपरजनविभागा बुद्धिः सा तथाविधा। निजा कुवलयासादिप्रदा। परे प्रसिद्धाः। भूयसा बहुनोक्तेन किं फलम्? हे भ्रमर षट्पद! किं त्वं निश्चितवानसि त्वं भ्रमरशीलत्वादन्यत्रापि जीवितुं शक्तस्तथापि एवंविधः सेव्य इति किमित्थं निश्चितवानसि? किमर्थमिति योज्यम्। व्यर्थमिति वा पाठः। असौ वारणोऽपि निवारणोऽपि अन्तश्शून्यकरोऽपि अन्तःसुषिरकरोऽपि अर्थशून्यकरोऽपि वा न किञ्चिदपि दातुं यस्य शक्तिरेवंविधकरोऽपि असौ वारणो गजो निषेव्यत इति यत् तस्मात्। भ्रातरित्यनुकम्पायाम् एष ग्रहो दुरभिनिवेशः। सर्वथा त्वयैवंविधसेवा न कर्त्तव्या। अन्यतो गत्वा यया कयाचन विधया वर्तितव्यमिति॥

वह अनोखी उल्टी जीभ की रचना है (हाथी की जीभ अन्य प्राणियों की

जीभ से भिन्न और उल्टे प्रकार की होती है), कानों में वह (अद्भुत) चञ्चलता है तथा मस्ती के कारण अपनी पराई दिशा (रास्ते) को भूलने वाली वह (भ्रामक) नज़र है। और अधिक (दोषों को गिनाकर) कहने का क्या लाभ ? हे भौंरे ! (इस प्रकार का दोषपूर्ण जन्तु भी तुम्हारे लिए सेवनीय है) इस प्रकार का तुमने क्यों निश्चय कर लिया है ? हे भाई ! खोखली सूँड वाले और अपने पास पहुँचने से मना करने वाले हाथी की तुम्हारे द्वारा जो अब भी सेवा की जा रही है, यह तुम्हारी कैसी हठ है ?

यहाँ रसनाविपर्ययविधिः, कर्णयोश्चापलम् तथा मदविस्मृतस्वपरदृक् इन तीनों पदों में श्लेष से क्रमशः परस्पर विरोधी या उल्टी, अटपटी बातों को बोलने (उल्टे प्रकार की जीभ) वाले, कानों के चञ्चल अर्थात् किसी की चुगली को कानों से सुनकर विश्वास करने वाले, गर्व के कारण अपने पराये का विवेक न करने वाली बुद्धि रखने वाले स्वामी के अर्थ का बोध हो रहा है। इसी प्रकार अन्तःशून्यकरः और वारणः पदों से अर्थ प्रदान करने वाले हाथों से रहित और अपने पास न फटकने देने वाला—इन अर्थों का भी श्लेष से ज्ञान हो रहा है।

'अद्यापि असौ निषेव्यते' से तुम्हें बिलकुल भी इस कंजूस स्वामी की सेवा नहीं करनी चाहिए इस व्यङ्ग्य वस्तुध्वनि की प्रतीति हो रही है। इस प्रकार यहाँ श्लेषानुप्राणित अप्रस्तुत वाच्य हस्तिवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य कदर्यस्वामिवृत्तान्त की प्रतीति होने से सादृश्यनिबन्धना श्लेषानुप्राणित अप्रस्तुतप्रशंसा है। काव्यप्रकाश (१०.४४८) में यहश्लोक अप्रस्तुतप्रशंसा के उदाहरण के रूप में मिलता है।

तद्वैदग्ध्यं समुचितपयस्तोयतत्त्वं विवेक्तुं
संलापास्ते स च मृदुपदन्यासहृद्यो विलासः।
आस्तां तावद् बक यदि तथा वेत्थि किंचिच्छलथांस-
स्तूष्णीमेवासितुमपि सखे त्वं कथं मे न हंसः ॥२०॥

समुचितपयस्तोयतत्त्वं विवेक्तुं तद् वैदग्ध्यम्, ते संलापाः स च मृदुपदन्यासहृद्यो विलासः। हे बक ! आस्तां तावत्। यदि किञ्चिच्छलथांसः तथा तूष्णीम् एव आसितुं वेत्थि (तर्हि) त्वं मे कथं न हंसः (भवेः) ?

सुजनस्यैव सदसद्विवेचनमधुरालापनैर्भृत्यादिगुणगणसद्भावेन रन्ध्रान्वेषणविहीनतया च दुर्जनस्तमनुकर्त्तुं समर्थो न भवतीत्याह—तद्वैदग्ध्यमिति। समुचितपयस्तोयतत्त्वं विवेक्तुं वैदग्ध्यं तत्सम्मिश्रितयोर्दुग्धजलयोस्तत्त्वमिदं क्षीरमिदं जलमिति सद्भावं पृथक्कर्त्तुं सामर्थ्यं तथाविधम्। संलापास्ते मधुरालापास्तथाविधाः। मृदुपदन्यासहृद्यो विलासश्च। यो मन्दचरणविक्षेपमधुरो विलासः। पक्षिणां गगनोड्डयनं च तथाविधम्। इत्थं हंसस्य गुणयोगा भवन्ति। एतत्सर्वं तावदास्ताम्। इदं पूर्वोक्तगुणपञ्जरमिदानीं तिष्ठतु। हे हंस! किञ्चित् श्लथांसं स्वल्पशिथिलितांसं यथा तथा हंसवद्रन्ध्रं वीक्ष्य परपीडामकृत्वा तूष्णीमेवासितुमासनमपि कर्तुं परपीडामचिन्तयित्वा केवलासिकामेव विधातुं वेत्सि यदि सखे त्वं मे कथं न हंसो भवसि। न कदाचित् भवता रन्ध्रे परव्यसनं विधाय हंसवज्जोषमेवावस्थातुं शक्यते चेद्धंसो भवसि। नो चेत् हंसत्वं श्रेष्ठत्वं च तव न सम्भवति। बक इव कपटशील एव भवतीति।

दूध और पानी को ठीक रीति से अलग करने की वह चतुराई, वे (मीठे) वचन और वह कोमल कदमों वाली मनोहर चाल, अरे बगुले! वह सब रहने दो। बस यदि तुम केवल कंधे ढीले करके चुप बैठना ही सीख लो तो मेरे लिए हंस ही क्यों नहीं हो जाओगे?

यहां अप्रस्तुतवाच्य बकहंसवृत्तान्त से प्रस्तुतव्यङ्ग्य अधम साधुपुरुष वृत्तान्त की समान गुणों के आधार पर प्रतीति होने से सादृश्यनिबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा है।

पथि निपतितां शून्ये दृष्ट्वा निरावरणाननां
नवदधिघटीं गर्वोन्नद्धः समुद्धुरकन्धरः।
निजसमुचितास्तास्ताश्चेष्टा विकारशताकुलो
यदि न कुरुते काकः काणः कदा नु करिष्यति॥२१॥

शून्ये पथि निपतितां निरावरणाननां नवदधिघटीं दृष्ट्वा विकारशताकुलः (अतएव) गर्वोन्नद्धः समुद्धुरकन्धरः काणः काकः निजसमुचिताः ताः ताः चेष्टाः यदि (अधुना) न कुरुते (तर्हि) कदा नु करिष्यति?

यस्त्वप्रयासेन स्वयमेव दैवादुपनतां निर्नियन्त्रणां वृषस्यन्तीमुत्तमाङ्गनामात्मचापलेन समुपेक्षते तं प्रत्याह—पथि निपतितामिति। शून्ये निर्मनुष्ये पथि निपतितां भ्रष्टामुपनतां निरावरणाननां विवृतमुखीं मुखावरणहीनाम्। नवदधि-

घटीम् नवशब्देन प्राप्तयौवनामिति व्यनक्ति। एवम्भूतां दृष्ट्वा सैषा दिष्ट्या ममोपनीतेति गर्वेणोन्नद्ध आध्मातः समुद्धतकन्धरः समुत्थापितः पश्चाद् भूत्वा निजसमुचितव्यापारसम्पन्नश्च भूत्वा यदि न कुरुते। काण एकदृक् अनवसरवेदी वा। काको बलिभोजकः क्षुद्रो वा कदा कस्मिन् काले पुनः करिष्यति ?

सूनी राह पर गिरी पड़ी खुले मुँह वाली ताज़े दही की मटकी को देखकर सौ सौ विकारों (लोभों अथवा वासनाओं) से व्याकुल हुआ (इसीलिए) अभिमान से फूला, गर्दन को ऊँचा उठाने वाला काना कौआ अपने स्वभाव के अनुरूप उन उन क्रियाओं को यदि (अब) नहीं करेगा (तो फिर बताइए) कब करेगा ?

यहाँ किसी नवयौवना सुन्दरी को देखकर नीच हरकतें करने वाले किसी कामुक पुरुष की ओर संकेत किया गया है। यहाँ प्रस्तुत काकदधिवृत्तान्त से अप्रस्तुत कामुकरमणीवृत्तान्त की प्रतीति होने से सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है।

नृत्यन्तः शिखिनो मनोहरममी श्राव्यं पठन्तः शुका
वीक्ष्यन्ते न त एव खल्विह रुषा वार्यन्त एवाथवा।
पान्थस्त्रीगृहमिष्टलाभकथनाल्लब्धान्वयेनामुना
सम्प्रत्येतदनर्गलं बलिभुजा मायाविना भुज्यते ॥२२॥

मनोहरं नृत्यन्तः अमी शिखिनः श्राव्यं पठन्तः (अमी) शुकाः (च) न वीक्ष्यन्ते। अथवा ते एव खलु इह रुषा वार्यन्ते एव। सम्प्रति इष्टलाभकथनात् लब्धान्वयेन मायाविना अमुना बलिभुजा एतत् पान्थस्त्रीगृहम् अनर्गलं भुज्यते।

अविशेषज्ञस्य सेवायां कलाविज्ञानादपि चित्तानुवर्तनमेव प्रभवतीत्याह—नृत्यन्तः शिखिन इति। मनोहरं नयनसुभगं नृत्यन्तः। अमी शिखिनः। मधुरश्राव्यं श्रुतिमधुरम्। पठन्तोऽमी शुकाश्च न वीक्ष्यन्ते। पुनरपि त एव मधुराः शुकाश्चानवसरज्ञतया वार्यन्त एव समुत्सार्यन्त एव तस्माच्चित्तावसरज्ञेन सेवा कर्त्तव्या। मायाविना कपटनिपुणेनामुना बलिभुजा इष्टलाभकथनादभीप्सितसिद्ध्यनुगुणं रवता लब्धान्वयेन लब्धप्रवेशेन बलिभुजा काकेन सम्प्रत्येतत्पान्थस्त्रीगृहं गृहतोऽन्नपानादिकमनर्गलं स्वैरं भुज्यते। खण्डितताया मयूरताण्डवदर्शनेन शुकालापश्रवणेन च मनो दुःखायते। तस्मान्मयूरशुकयोर्नवालभ्यं समुत्सारणीयत्वमेव। काकस्तु तदभिलषितप्रियलाभाभिसूचकं वदन् षड्रसं भुङ्क्ते।

तस्मात् कालाविदामपि अनवसरज्ञानां न किञ्चित् फलं विद्यते। मायाविनामपि चित्ताराधननिपुणानामकार्यमेव कुर्वतां क्षुद्रान् मूर्खसमीपात् महत् फलं सम्भवति। तस्मात् चित्ताराधनमेव कृत्वा स्वार्थसम्पादननिपुणैरविशेषज्ञस्सेव्य इति।

चित्ताकर्षक नृत्य करते हुए ये मोर और सुनने योग्य अर्थात् कर्णानन्दजनक पाठ पढ़ते हुए तोते (या तो) दिखाई नहीं पड़ते हैं, अथवा (यदि कहीं दीख भी जाते हैं तो) वे ही यहाँ (से) निश्चित रूप से क्रोधपूर्वक हटा ही दिये जाते हैं। अब तो प्रिय की प्राप्ति (के शुभ शकुन) को बतलाने के कारण (घर में) प्रवेश को प्राप्त करने वाले कपटी इस कौवे के द्वारा प्रवासी पति की स्त्री का यह घर स्वच्छन्दता के साथ भोगा जा रहा है।

यहाँ अप्रस्तुतवाच्य शिखिशुककाकवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य सज्जनदुर्जनवृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है। शिखिशुकसदृश सज्जनों को सम्मान के स्थान पर अपमान की अनिष्टापत्ति होने से विषमालङ्कार भी है।

करभ रभसात् क्रोष्टुं वाञ्छस्यहो श्रवणज्वरः
शरणमथवानृज्वी दीर्घा तवैव शिरोधरा।
पृथुगलविलावृत्तिश्रान्तोच्चरिष्यति वाक् चिरा
दियति, समये को जानीते भविष्यति कस्य किम् ॥२३॥

(हे) करभ! रभसात् क्रोष्टुं वाञ्छसि। अहो श्रवणज्वरः। अथवा तवैव अनृज्वी दीर्घा शिरोधरा (मम) शरणम्। पृथुगलविलावृत्तिश्रान्ता वाक् चिरात् उच्चरिष्यति। इयति समये कस्य किं भविष्यति (इति) कः जानीते?

दुर्जनः श्रवणपरुषैःशब्दैराक्रोशैरधश्चिकीर्षति। तेन सह वाङ्मिश्रणमपि विधातुमपारयन् विदग्धः—स तु कालक्रमेण स्वयमेव स्वप्रतिबन्धोपायः—इति विचिन्त्य प्रतिपन्नसाहसः (भवति)[1] इत्याह—करभ इति। करभः क्रमेलकः। रभसात् सर्वप्राणेनापि क्रोष्टुं गर्जितुं वाञ्छसि किं करोमि। अहो श्रवणज्वरो कर्णयोर्व्यसनमुपनतम्। अथवा अस्मिन् समये किञ्चिच्छरणमस्ति। तवैवानृज्वी वक्रा दीर्घा शिरोधरा ग्रीवा व्यसनप्राप्तस्य मे शरणं नान्यत्। बहुगलविलावृत्तिश्रान्ता निरायतकण्ठरन्ध्रनिर्गमच्छिन्नस्वरूपा तव वाङ् मुखाद् वागुच्चरिष्यति। तस्मादित्येतावन्मात्रे समये अवसरे कस्य किं भविष्यतीत्यावयोः कतरस्य किं

व्यसनं भविष्यतीति को जानीते न कश्चिदपि वेत्ति । सर्वथापि न चिरं जीवितम् । रभसात् क्रोशं कुर्वतस्ते जिह्वारोगेण कदाचिदापद् भविष्यति । तस्मात् त्वया सह न वाङ्मिश्रणं ममोचितम् । तूष्णीमेव स्थातव्यमिति ।

अरे ऊँट ! तुम पूर्ण शक्ति से चिल्लाना चाहते हो । ओ हो ! (तुम्हारा यह चिल्लाना तो साक्षात्) कर्णज्वर (कानों को फोड़ने वाला अतएव कानों के लिए अत्यन्त कष्टप्रद) होगा । या फिर (अब) तुम्हारी ही टेढ़ी और लम्बी गर्दन (मेरा) सहारा है । बड़े गले के छेद में से बारबार निकलने से थकी हुई तुम्हारी वाणी बहुत देर में निकलेगी । इतने समय में किसका क्या हो जाय (इस बात को) कौन जानता है ?

यहाँ क्रूर शासक द्वारा प्रताडित निरपराध व्यक्ति की मानसिक स्थिति का वर्णन है । अपने लिए दण्ड का आदेश पाकर यह निर्दोष व्यक्ति सोचता है कि जब तक इस भ्रष्ट राजा की आज्ञा भ्रष्ट अधिकारियों के द्वारा लागू की जायेगी तब तक परिस्थिति बदल जायेगी और बुरे कारनामों के कारण इसका तख्ता ही पलट जायेगा और मेरा बचाव हो जायेगा । इसलिए शान्त-चित्त होकर समय की प्रतीक्षा कर लेनी चाहिए ।

यहाँ अप्रस्तुत वाच्य करभवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य दुष्ट शासक वृत्तान्त की प्रतीति होने से सादृश्यमूलक अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है । करभ की चिल्लाहट को कर्णज्वर बताकर तथा लम्बायमान ग्रीवा की सत्ता की ओर सङ्केत करके निषेधाभास की प्रतीति हो रही है, इस कारण यहाँ आक्षेप अलङ्कार है । इन दोनों अलङ्कारों का एकत्र समावेश होने के कारण यहाँ एकवचनानुप्रवेश सङ्कर है ।

अन्तश्छिद्राणि भूयांसि कण्टका बहवो बहिः ।
कथं कमलनालस्य मा भूवन् भङ्गुरा गुणाः ॥२४॥

अन्तःभूयांसि छिद्राणि बहिः (च) बहवः कण्टकाः (सन्ति) कमलनालस्य गुणाः भङ्गुराः कथं मा भूवन् ?

सर्वथाभ्यन्तरच्छिद्रबहुले नृशंसपरिवारे गुणा न तिष्ठन्तीत्याह—अन्तश्छिद्राणीति । अभ्यन्तरे छिद्राणि रन्ध्राणि भूयांसि बहिः कण्टका बाधाकराः बहवः । एवम्भूतस्य कमलनालस्य गुणास्तन्तवः कथं भङ्गुरा श्छिदुरा मा भूवन् । मनसि बहुच्छिद्रस्य तत्तदसाधु चिन्तयतः बहिः कण्टकैः परिवृतस्य गुणाः विनश्वराः चेति ।

भीतर बहुत से छेद हैं और बाहर बहुत काँटे हैं तो फिर कमलदण्ड के तन्तु (क्षण भर में) टूटने वाले कैसे न हों ?

यहाँ किसी ऐसे शासक की ओर संकेत है जिसके अपने मंत्रिमण्डल में भी फूट है तथा जिस पर बाहर से शत्रु आक्रमण करने को तैयार हैं। ऐसे शासक के अपने गुण भी नष्ट हो जाते हैं।

यहाँ अप्रस्तुत वाच्य कमलनाल वृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य नृशंसपरिवार की प्रतीति होने से सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा है। गुणों की भङ्गुरता में अनेक छिद्रों तथा बहुत से काँटों की हेतुता होने से काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। छिद्र शब्द के छेद तथा दोष एवं कण्टक के काँटे तथा शत्रु ये दो अर्थ होने से यहाँ श्लेष भी है।

किं दीर्घदीर्घेषु गुणेषु पद्म सितेष्ववच्छादनकारणं ते ।
अस्त्येव तान् पश्यति चेदनार्या त्रस्तेव लक्ष्मीर्न पदं विधत्ते ॥२५॥

(हे) पद्म ! दीर्घदीर्घेषु सितेषु गुणेषु ते अवच्छादनकारणं किम् ? (कारणम्) अस्त्येव चेत् अनार्या लक्ष्मीः तान् पश्यति (तदा) त्रस्ता इव पदं न विधत्ते ।

महेश्वरेण एष श्लोको न व्याख्यातः अस्मदीया संस्कृतटीका—निर्गुणजना गुणिनो न कामयन्त इत्याह—किं दीर्घदीर्घेष्विति दीघदीर्घेषु गुणेषु अतिविस्तृतेषु तन्तुषु अन्यत्र महत्सु दयादाक्षिण्यादिसद्गुणेषु सितेषु श्वेतवर्णवत्सु अन्यत्र शलाघ्येषु अवच्छादनकारणं गोपनप्रयोजनम्। अनार्या दुष्टा दुश्शीला वा लक्ष्मीः श्रीः पदं न विधत्तं न तत्र आगच्छेत् !

(हे) कमल ! श्वेत और लम्बे-लम्बे तन्तुओं को तुम्हारे द्वारा छिपाकर रखने में क्या कारण है ? (हेतु तो) है ही। (क्योंकि) यदि दुश्चरित्र लक्ष्मी इन्हें देख ले तो शायद डर के मारे यहाँ कदम न रखे।

यहाँ 'गुणेषु' पद में श्लेष है। कमल पक्ष में गुण का अर्थ तन्तु है। कमल दण्ड के अन्दर लम्बे-लम्बे तन्तु होते हैं। इन तन्तुओं को कमलनाल में छिपाकर रखने की उत्प्रेक्षा की गई है। इसमें गुण रूपी तन्तुओं को छिपाकर रखने का कारण यह बताया है कि लक्ष्मी गुणी जनों के सम्पर्क को पसन्द नहीं करती वह गुणहीनों में रहना चाहती है। यह कमललक्ष्मी भाग न जाये इसलिए

कमल ने अपने भीतर छिपे हुए गुणयुक्त तन्तुओं को नहीं प्रकट किया। यहाँ गुणों को गोपन करने रूप अहेतु में हेतु की उत्प्रेक्षा होने से हेतूत्प्रेक्षा है। यहाँ प्रस्तुत वाच्य पद्मलक्ष्मीवृत्तान्त से अप्रस्तुत व्यङ्ग्य गुणिजनों को न पसन्द करने वाली और दुराचारी व्यक्तियों में अनुराग रखने वाली चञ्चल लक्ष्मी के वृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार भी है।

न पङ्कादुद्भूतिर्न जलसहवासव्यसनिता
वपुर्दिग्धं कान्त्या स्थलनलिन रत्नद्युतिमुषा।
व्यधास्यद् दुर्वेधा हृदयलघिमानं यदि न ते
त्वमेवैको लक्ष्म्याः परममभविष्यः पदमिह ॥२६॥

(हे) स्थलनलिन ! न (ते) पङ्कात् उद्भूतिः, न (ते) जलसहवासव्यसनिता, वपुः (च ते) रत्नद्युतिमुषा कान्त्या दिग्धम्। दुर्वेधा यदि ते हृदयलघिमानं न व्यधास्यत् (तर्हि) एकः त्वमेव इह लक्ष्म्याः परमं पदमभविष्यः।

टीकाकर्त्रा महेश्वरेण एष श्लोको न व्याख्यातः। उपरिलिखितः श्लोकः अयं च श्लोकः संस्कृत-टीकायां नोपलभ्येते परमिमौ मूलपाठे तु उपलभ्येते। अस्मदीया संस्कृतटीका—स्वजनद्वेषी सङ्कीर्णहृदयः अनुदारपुरुषः सत्कुलोत्पत्तिप्रतिभातेजस्वितादिगुणानपि प्राप्य विजयश्रियं प्रचुरसम्पदं वा प्राप्तुं न शक्नोति इत्याह—न पङ्कादुद्भूतिरिति। हे स्थलारविन्द स्थलकमल गुलाब इति हिन्दीभाषायाम्। पङ्कात् कर्दमात् अन्यत्र नीचकुलात्। उद्भूति उत्पत्तिर्जन्म वा। जलसहवासव्यसनिता जलानां वारीणां सहवासस्य निवासस्य व्यसनिता व्यसनम् अन्यत्र जडानां मूर्खाणां सहवासस्य सङ्गते व्यसनं दोषः। रत्नद्युतिमुषा कान्त्या अतिदीप्रया कान्त्या भास्वरं शरीरम् विधते। दुर्वेधा मूर्खो विधाता स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा इत्यमरः। हृदयलघिमानं मध्यभागस्य लघ्वाकारं स्थलपद्मधत्ते अन्यत्र हृदयस्य अनुदारत्वमदाक्षिण्यम्। लक्ष्म्याः परमं पदमभविष्यः पद्मश्रियः भाजनं स्थलकमलम् लक्ष्म्या भाजनं च त्वमभविष्यः। त्वं यदि औदार्यं विशालहृदयताञ्च अग्रहिष्यः तर्हि सुहृदां सहयोगिनां साहाय्यं प्राप्य नाढ्यो विजयी चाभविष्यः इत्याशयः।

हे स्थलकमल ! तुम न तो कीचड़ से जन्मे हो, न ही जड़ (पानी तथा मूर्ख) के संग का दोष तुम में है। तुम्हारा शरीर भी रत्न की कान्ति के समान लाल कान्ति से देदीप्यमान है। यदि दुष्ट विधाता तुम्हारा दिल छोटा न बनाता तो केवल तुम्हीं लक्ष्मी का परम स्थान होते।

यहाँ हृदयलघिमा के अभाव में लक्ष्मीपदप्राप्ति की कल्पना 'यदि' शब्द को लेकर की गई है इसलिए यहाँ यद्यर्थिका अतिशयोक्ति है। अप्रस्तुत वाच्य स्थलकमल के वर्णन से प्रस्तुत व्यङ्ग्य कुलीनत्वादिगुणसम्पन्न व्यक्ति की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार भी है।

पङ्क, जड शब्दों में शाब्दी व्यञ्जना है। पङ्क शब्द से नीच और जड शब्द से मूर्ख अर्थ की भी प्रतीति हो रही है। वक्ता श्रोता को बताना चाहता है कि तुम्हारा नीच कुल में जन्म नहीं हुआ है और मूर्ख व्यक्तियों से भी तुम घिरे नहीं रहते हो तथा तुम्हारा व्यक्तित्व भी तेजस्वी है किन्तु विधाता ने ग़लती से तुम्हारा हृदय संकीर्ण बना दिया है अन्यथा तुम भी अपने सहयोगियों की सहायता पाकर बहुत बड़े धनपति होते। ब्रह्मा ने तुम्हारा दिल छोटा बनाकर तुम्हारे साथ अन्याय किया है।

उच्चैरुच्चरतु चिरं चिरी वर्त्मनि तरुं समारुह्य।
दिग्व्यापिनि शब्दगुणे शङ्खः सम्भावनाभूमिः ॥२७॥

वर्त्मनि तरुं समारुह्य चिरी चिरम् उच्चैः उच्चरतु (परन्तु) दिग्व्यापिनि शब्दगुणे शङ्ख (एव) सम्भावनाभूमिः (भवति)।

मूर्खस्य बहु जल्पतो विदग्धस्य मृदुवचनमेव युक्तमित्याह—उच्चैरुच्चरत्विति। चिरी सल्लिका तरुं समारुह्योच्चैश्चिरमुच्चरतु। दिग्व्यापिनि लोकव्यापिनि शब्दगुणे शङ्ख एव सम्भावनायाः श्लाघाया भूमिः पदं भवति। अयमर्थः। तुङ्गमासनमारुह्य समुद्धतमतिचिरमुच्चरतोऽपि नीचस्य वाक्यं गुणहीनतया लोकग्राह्यं न भवति। विदग्धालापो माधुर्यगुणयोगेन प्रथत इति।

रास्ते में (स्थित) पेड़ पर चढ़ कर झींगुर देर तक ऊँचे-ऊँचे (भले ही) चिल्लाता रहे परन्तु दिशाओं में व्याप्त होने वाले शब्द के गुण के विषय में शङ्ख ही आदर पाता है।

यहाँ अप्रस्तुत वाच्य चिरीशङ्खवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य नीचगुणिवृत्तान्त की प्रतीति होने से सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है।

शङ्खोऽस्थिशेषः स्फुटितो मृतो वा
प्रोच्छ्वास्यतेऽन्यश्वसितेन सत्यम्।
किन्तूच्चरत्येव हि सोऽस्य शब्दः
श्राव्यो न यो यो न सदर्थशंसी ॥२८॥

शङ्खः अस्थिशेषः स्फुटितः मृतः वा (भवति) अन्यश्वसितेन (च) प्रोच्छ्वास्यते (इत्यपि) सत्यम् । किन्तु उच्चरति एव । हि अस्य स शब्दः (एतादृशः अस्ति) यः न श्राव्यः यः (च) सदर्थशंसी (अपि) न ।

यः कश्चिदज्ञतया स्वयं वक्तुमजानानः परमुखेन विवक्षति तं प्रत्याह—शङ्खोऽस्थिशेष इति । शङ्खः कम्बुः । अस्थि कीकसं तदेव शेषो यस्य स तथोक्तः । स्फुटितो विभिन्नश्छिद्रितो वा मृतः शकलितो वा भवतु । विपर्ययेऽपि स्वेनैव ध्वनितुमशक्यत्वादिति भावः । यस्मादन्यस्य परस्योच्छ्वसनेनैव प्रोच्छ्वास्यते आध्मायत इति यावत् । ण्यन्ताच्छ्वसतेः कर्मणि लट् । सत्यं निश्चितम् । किन्तु विशेषोऽस्ति । स शङ्खः उच्चरति ध्वनति । स शब्दोऽस्य शङ्खस्य सम्बन्धी न भवति किन्तु पुरुषसम्बन्धी । यः शब्दः श्राव्यः आकर्णनीयो न सदर्थशंसी प्रशस्तार्थवाची वा न भवति । निजप्रतिभाविशेषाभावान्मूर्खो न सम्यग् ब्रवीतित्यर्थः ।

शङ्ख अस्थिमात्र है, बीच से टूटा हुआ है या मरा पड़ा है, और सचमुच दूसरों के श्वास से फूँका जाता है (शब्दायित होता है)। किन्तु फिर भी यह बोलता जाता है । निश्चय ही इसका वह शब्द (ऐसा होता है) जो न तो श्रवणीय अर्थात् सुनने योग्य होता है न ही किसी अच्छे अर्थ को बताने वाला होता है ।

तृतीय पंक्ति में 'हि' अव्यय का ग्रहण करने से यह अर्थ निन्दापरक हो जाता है किन्तु 'हि' के स्थान पर 'न' पाठ स्वीकार करने से अन्वय इस प्रकार हो जायेगा—किन्तु उच्चरति एव । अस्य स शब्दः यः श्राव्यो न (भवति) यः (च) सदर्थशंसी न (भवति एतादृशः) न (विद्यते) । इस प्रकार के अर्थ में ऐसे व्यक्ति की ओर संकेत है जो दुर्बल होने पर भी दूसरे का सहारा पाकर बढ़िया बात कहता है यह अर्थ स्तुतिपरक हो जाता है ।

यहाँ अप्रस्तुत वाच्य शङ्खवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य अज्ञ अथवा सुविज्ञ व्यक्ति के वृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है ।

यथापल्लवपुष्पास्ते यथापुष्पफलर्द्धयः ।
यथाफलर्द्धिस्वारोहा हा मातः क्वागमन्द्रुमाः ॥२६॥

हा मातः ! यथापल्लवपुष्पाः, यथापुष्पफलर्द्धयः, यथाफलर्द्धिस्वारोहा ते द्रुमाः क्व अगमन् ?

यथा पल्लवेति । यथा पल्लवपुष्पाः पल्लवा आरोहाः । सुखेन आरोहः

स्वारोहः सुगमत्वं येषां ते तथोक्ता महान्तः समुच्छ्रिता द्रुमास्तरवः क्वागमन् क्व गताः। अयमर्थः—अनुरागानुगुणस्मिताः स्मितानुगुणपरप्रयोजनाः प्रयोजनानुगुणप्राप्त्यार्थगतयो महान्तो लोकेऽत्यन्तदुर्लभा इति।

हे माता! वे वृक्ष कहाँ चले गये जिनके फूल उनके नये पत्तों के अनुरूप होते थे, जिनकी फलसमृद्धि उनके फूलों के अनुरूप होती थी और जिनकी सुन्दर सुगम्य उठान उनके फलों की समृद्धि के अनुरूप होती थी?

यहाँ पूर्व पूर्व वाक्य उत्तर उत्तर वाक्य का विशेषण है अतः एकावली अलङ्कार है।

यहाँ अप्रस्तुत वाच्य द्रुमों के वर्णन से प्रस्तुत व्यङ्ग्य (के सद्व्यवहार) सज्जनों की प्रतीति हो रही है। इन सज्जनों की प्रेम के अनुरूप मुस्कुराहट, मुस्कुराहट के अनुरूप प्रयास तथा प्रयासों के अनुरूप अर्थसिद्धि होती है। यहाँ एकावली तथा अप्रस्तुतप्रशंसा का एकवचनानुप्रवेश सङ्कर है।

साध्वेव तद्विधावस्य वेधा क्लिष्टो न यद्वृथा ।
स्वरूपाननुरूपेण चन्दनस्य फलेन किम् ॥३०॥

साधु एव, यत् अस्य तद्विधौ वेधा वृथा न क्लिष्टः (यतः) स्वरूपाननुरूपेण फलेन चन्दनस्य किम्?

असत्कार्यस्य करणात्तस्याकरणमेव वरमित्याह— साध्वेवेति। वेधा ब्रह्मा। चन्दनतरोस्तद्विधौ तस्य फलस्य विधौ निर्माणविषये वृथा व्यर्थमेव न क्लिष्टो न श्रान्तः इति यावत्। तत्साधु समीचीनमेव। अयमर्थः—फलेन तरोरप्यधिकसौगन्ध्यादिगुणवता भाव्यम्। तादृशत्वसम्पादनेन तन्निर्माणे मे श्रममेव सेत्स्यतीति वेधसो भाव इति तदेवोपपादयति—चन्दनस्य स्वरूपाननुरूपेण अननुगुणेन फलेन किम्? न किमपीत्यर्थः। कस्यचित् सुजनस्य दुष्पुत्रलाभात् तदभाव एव श्रेयानिति न च युज्यते। अन्यत्र पुत्रादिनैव न युज्यते न युक्तो भवति। असत्स्वीकारः सत्परित्यागश्च न श्रेयोहेतुरिति भावः।

यह अच्छा ही हुआ जो इसके उस (फल) के बनाने में विधाता ने व्यर्थ कष्ट नहीं उठाया। अपने रूप के अननुरूप अर्थात् असदृश फल से चन्दन को क्या लाभ था? अर्थात् कुछ लाभ न था।

यहाँ चन्द्रन में फलों के निर्माणाभाव में फलों और चन्दन के स्वरूप की

अननुरूपता हेतु है अतः यहाँ काव्यलिङ्ग है। अप्रस्तुत वाच्य चन्दनवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य महामहिमशाली, यशस्वी एव निस्सन्तान व्यक्ति के वृत्तान्त की अभिव्यक्ति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा है। उस महान् पुरुष तक ऊँचा उसका पुत्र नहीं बन सकता यह अतिशयोक्ति है। यहाँ इन तीनों अलङ्कारों का एकवचनानुप्रवेश सङ्कर है।

ग्रथित एष मिथः कृतशृङ्खलैर्विषधरैरधिरुह्य महाजडः।
मलयजः सुमनोभिरनाश्रितो यदत एव फलेन वियुज्यते ॥३१॥

महाजडः एष मलयजः मिथः कृतशृङ्खलैर्विषधरैः अधिरुह्य ग्रथितः। यत् सुमनोभिः अनाश्रितः अत एव फलेन वियुज्यते।

[ग्रथित एव मिथः कृतशृङ्खलैः] विषधरैरधिरुह्येति। महाजडोऽतिशीतल अत्यज्ञश्चान्यत्र। एष मलयजश्चन्दनतरुः। मिथोऽन्योन्यम्। कृताः शृङ्खला येषां तैः। परस्परसंश्लिष्टैरित्यर्थः। विषधरैः स्वल्पैर्दुष्टजनैश्चाधिरुह्याधिष्ठाय ग्रथितो बद्धः। सुमनोभिः पुष्पैरन्यत्र सुजनैश्च। यत् यस्मादनाश्रितः अतएव फलेन न युज्यते न युक्तो भवति। असत्स्वीकारः सत्परित्यागश्च न श्रेयो हेतुरिति भावः।

अत्यन्त शीतल यह चन्दन आपस में इकट्ठे होकर जंजीर बने हुए साँपों के द्वारा (ऊपर) चढ़कर (जकड़कर) बाँध दिया गया है इसीलिए फल से वियुक्त हो रहा है (इस पर फल नहीं लगे हैं)।

यहाँ जड शब्द के शीतल और मूर्ख दो अर्थ हैं। इसी प्रकार विषधर का साँप तथा दुष्ट जन अर्थ है और सुमनस् शब्द के पुष्प एवं शुद्ध मन वाले सज्जन अर्थ हैं। इस प्रकार जड और सुमनस् पद में पदश्लेष तथा विषधर पद में आर्थी व्यञ्जना है।

यहाँ अप्रस्तुत वाच्य मलयजवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य दुष्टसंसर्गग्रस्त व्यक्ति-विशेष की अभिव्यक्ति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा है। चन्दन में फलों का न होना स्वाभाविक है किन्तु यहाँ विषधरों के लिपटने को इसमें हेतु माना है इस कारण अहेतु में हेतु की कल्पना करने से यहाँ हेतूत्प्रेक्षा है। सर्पों के संसर्ग से पेड़ विषाक्त हो गया है इसलिए उसमें फल नहीं लग रहे हैं।

चन्दने विषधरान् सहामहे वस्तु सुन्दरमगुप्तिमत्कुतः।
रक्षितुं वद किमात्मगौरवं सञ्चिताः खदिर कण्टकास्त्वया ॥३२॥

→ यहाँ सज्जन पुरुष की बात कही है।

चन्दने विषधरान् सहामहे सुन्दरं वस्तु कुतः अगुप्तिमत् (स्यात् ? किन्तु हे) खदिर ! आत्मगौरवं रक्षितुं त्वया कण्टकाः किं सञ्चिताः ? (इति) वद।

धनिनस्सुजनस्य सकलोपकारकत्वेन शरीरसंरक्षाविधानमुचितमेव। तद्विलक्षणस्य तु तदनुचितमित्याह—चन्दन इति । चन्दने चन्दनतरौ सुजनोऽपि प्रतीयते । विषधरान् सर्पान् अन्यत्र दुष्टांश्च सहामहे सोढा स्मः। तत्र हेतुमाह—सुन्दरं रमणीयं वस्तु कुतो हेतोररक्षितं रक्षाविहीनं स्यात् न कस्मादपीत्यर्थः। हे खदिर ! मूढोऽपि प्रतीयते। आत्मनः स्वस्य सौष्ठवं रम्यतां रक्षितुं त्वया कण्टका द्रुमाङ्गा दुष्टाश्च प्रतीयन्ते [सञ्चिताः] सम्पादिताः। किमित्यत्र किं शब्दः प्रश्ने। यः स्वयमदातापि दौवारिकसूचकादिपरिवृतो भवति तं धिगिति भावः।

चन्दन वृक्ष पर साँपों (के रहने) को तो हम सह लेंगे क्योंकि सुन्दर वस्तु क्यों असुरक्षित रहे ? परन्तु हे खैर के वृक्ष ! तुमने अपने बड़प्पन की रक्षा के लिए ये काँटे क्यों इकट्ठे कर रखे हैं ?

यहाँ पूर्वार्ध में चन्दन में विषधर निवास सहन रूप कार्य के लिए सुन्दर वस्तु रक्षणरूप कारण होने से काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। अप्रस्तुत वाच्य चन्दन, विषधर, खदिर तथा कण्टक वृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य सकलोपकारक सुजन धनी, दुष्ट संरक्षक, गुणहीन कृपण व्यक्ति तथा नीच रक्षक अर्थ की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है। इस प्रकार यहाँ काव्यलिङ्ग और अप्रस्तुतप्रशंसा में अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर है।

यत्किञ्चनानुचितमप्युचितानुवृत्ति
किं चन्दनस्य न कृतं कुसुमं फलं वा ।
लज्जामहे वयमुपक्रम एव यान्तः
तस्यान्तिकं परिगृहीतबृहत्कुठाराः ॥३३॥

(हे विधे त्वया) यत् चन्दनस्य किञ्चन कुसुमं फलं वा न कृतम् (इति) अनुचितमपि किम् उचितानुवृत्ति ? परिगृहीतबृहत्कुठारा वयं तस्यान्तिकं यान्तः उपक्रमे एव लज्जामहे ।

दुर्जनस्येव सुजनस्यापि येऽपचिकीर्षन्ति तेषां मनस्स्वदमेव लज्जितं स्यादित्याह—यत्किञ्चनेति । हे विधे ! अनुचितमपि कुसुमफलकार्यस्य चन्दने नैव सम्भवादन्याय्यमपि। अभ्यस्यतस्तेऽप्युचितं न्याय्यमित्यमरः। किञ्चनाल्पमपि

कुसुमं फलं वा। वा शब्दो विकल्पे चन्दनस्य न कृतं नाकारीति यत् तदुचितानुवृत्ति किमुचितानुसरणं किं नोचितमित्यर्थः। तदेतदुपपादयति—उपक्रम एव दर्शन-प्रारम्भसमय एव परिगृहीतः स्वीकृतः। बृहत्कुठारः स्थूलपरशुर्यैस्तथोक्ताः। वयं तस्य चन्दनस्यान्तिकं समीपं यातुं प्राप्तुं भृशमत्यर्थं लज्जामहे। ह्रीणाः स्मः। अथवा परिगृहीतबृहत्कुठारा भूत्वा तस्यान्तिकतां प्राप्ता वयमुपक्रमे छेदनप्रारम्भसमय एव भृशं लज्जामहे। सौरभ्यलोभादिति भावः। सदुपकार-पात्रे सुजनेऽपचिकीर्षा पामरस्यापि पीडामावहतीति भावः।

(हे विधाता! तुमने) जो चन्दन वृक्ष के ऊपर थोड़े भी पुष्प फल नहीं बनाये यह अनुचित कार्य भी क्या उचित व्यापार (माना जायेगा)? बड़े बड़े कुल्हाड़ों को (हाथों में) लेकर हम उसके पास (काटने के लिए) जाते हुए (काटने के) प्रारम्भिक काल में ही लजाते हैं।

चन्दन में यदि पुष्प और फल होते तो लोग उसके सुगन्धित पुष्पों और फलों को पाकर ही सन्तुष्ट हो जाते और उन्हें सुगन्धित लकड़ी प्राप्त करने के लिए चन्दन वृक्ष को न काटना पड़ता। इसी प्रकार उपकारक व्यक्ति की सम्पत्ति का अपहरण करने वाले व्यक्ति भी स्वार्थवश ऐसा करते हैं किन्तु मन में उन्हें मानसिक कष्ट होता है।

यहाँ चन्दन में पुष्पफलाभाव उसके काटने में हेतु है अतः काव्यलिङ्ग है। अप्रस्तुत वाच्य चन्दनकुठारवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य सुजन (के प्रति अपकार-पूर्ण) वृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा है। इन दोनों अलङ्कारों के एक ही आश्रय में रहने से एकवचनानुप्रवेश सङ्कर है।

लब्धं चिरादमृतवत्किममृत्यवे स्याद्
दीर्घं रसायनवदायुरपि प्रदद्यात्।
एतत्फलं यदयमध्वगशापदग्धः
स्तब्धः खलः फलति वर्षशतेन तालः ॥३४॥

अध्वगशापदग्धः स्तब्धः खलः अयं तालः यत् वर्षशतेन फलति। चिरात् लब्धम् एतत् फलं किम् अमृतवत् अमृत्यवे स्यात् (अथवा) रसायनवत् दीर्घमायुः अपि प्रदद्यात्? (न प्रदद्याद् इति भावः)।

कठिनप्रकृतिरिति विलम्बदायित्वान्न सेव्य इत्याह—लब्धं चिरादिति। अध्वगानां छायार्थिनां तदभावेन निर्विण्णानाम्। पथिकानां शापेनाक्रोशेन दग्धो

विच्छाय: स्तब्धो जड: । खल: कठिनोऽयं ताल: । वर्षाणां वत्सराणां शतेन करणेन यत्फलति तत्फलं चिरात् बहुकालाल्लब्धम् प्राप्तम् । अमृतवत् सुधेव । अमृत्यवे मरणाभावाय स्यात् भवेत् । किमित्यत्र काकु: । रसायनवत् रसो वीर्यं बलातिशयो ईयते प्राप्यते वृद्धादिभिर्वर्तनादनेनेति रसायनवत् रसप्रधानम् । विहङ्गेऽपि जराव्याधिरौषध इति विश्वप्रकाश: । दीर्घं निरवधिकम् । आयुर्जीवितं प्रदद्यात् उत प्रत्युत दद्यात् । किं नेत्यर्थ: । उत विशेषोऽत्र विकल्पे । अयमर्थ:— तालफलोपभोगिना अमृतपायिनेव न मृत्युर्विजीयते रसायनपायिनेव नदीर्घ मायुरवाप्यते । तत्किमेतावन्तं कालमासित्वा परिशुष्यते । तदन्यत्रोपसर्तव्यमिति ।

जो पथिकों के शाप से जला हुआ यह जड़ दुष्ट ताल वृक्ष सौ साल के बाद फल देता है तो क्या देर से मिला हुआ इसका यह फल अमृत की तरह मृत्यु से बचाने वाला होता है ? या रसायन की तरह दीर्घ आयु को देता है ? (अर्थात् नहीं देता ।)

यहाँ अप्रस्तुत वाच्य तालवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य अतिकृपण व्यक्ति की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है ।

छिन्नस्तृप्तसुहृत् स चन्दनतरुर्यूयं पलाय्यागता
भोगाभ्याससुखासिका: प्रतिदिनं ता विस्मृतास्तत्र व: ।
दंष्ट्राकोटिविषोल्कया प्रतिकृतं तस्य प्रहर्तुर्न चेत्
किं तेनैव सह स्वयं न लवशो याता: स्थ भो भोगिन: ॥३५॥

भो: भोगिन: ! तृप्तसुहृत् स चन्दनतरु: छिन्न: (अथ च) यूयं पलाय्य आगता: । तत्र ता: प्रतिदिनं भोगाभ्याससुखासिका: व: विस्मृता: । भवद्भि: चेत् दंष्ट्राकोटिविषोल्कया तस्य प्रहर्तु: न प्रतिकृतम् (तर्हि) तेनैव सह स्वयं किं लवश: न याता: स्थ ?

य: कश्चित् खल: प्रभुमाश्रित्य सुखेन बहुकालमुषित्वा तस्य व्यसनसमुत्पत्तौ तत्प्रतीकारक्षमोऽपि किञ्चिदप्यपरिहृत्यान्यतोऽपसरति तं प्रत्याह—छिन्नेति । भो भोगिन: हे सर्पा: विषयिणश्च प्रतीयन्ते । तप्ता दग्धा सुहृद: सुखीभूता: समीपस्था वृक्षा यस्य स तथोक्तश्चन्दनतरु: । राजा च प्रतीयते । छिन्न: छेदं प्रापित: । यूयं भवन्तोऽपि पलाय्य पलायनं कृत्वा आगता आगतवन्त: । तत्र चन्दनतरौ राज्ञि च प्रतिदिनं सर्वदा तास्तथाविधा: । वो युष्माकं भोगानां विषयाणामभ्यास आवृत्ति: । अथवा भोगस्य सर्पकायस्य आवृत्तिर्वेष्टनम् । ते सुखासिका: सुखरूपा: **आसनानि स्थानानीति यावत् । विस्मृता: न** चेतस्वी-

कृताः। आसेर्धातो र्धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल् वक्तव्य इति ण्वुल्प्रत्ययः दंष्ट्राणां कोटिषु यद्विषं तस्य उल्का ज्वाला तया करणेन। प्रहर्तुः छेदकस्य तस्य पुरुषस्य। प्रतिकृतं प्रतीकारो न कृतश्चेत्तर्हि तेनैव चन्दनेन राजा च प्रतीयते। स तु किं केन हेतुना। दलशः खण्डशः। न याताः स्थ न गतवन्तः। स्वामिनि समीपमापन्ने सति भृत्येन तावत्प्रतीकारो विधेयः। नो चेत् तेनैव सहोषित्वा आपन्नेनापि भाव्यमित्यर्थः। समरे राजानं विसृज्यागतान् योधान् प्रत्ययस्यावसरः।

हे सर्पो! दुःखी मित्रों वाला वह चन्दन वृक्ष काट दिया गया है और तुम (उसके पास से) भाग कर आ गये हो। प्रतिदिन वहाँ आराम से बैठना और आनन्द मनाना तुम्हें भूल गया? यदि तुम उस पर प्रहार करने वाले से अपनी दाढ़ों के ज़हर की ज्वाला से बदला न ले पाए तो उसके साथ वहीं टुकड़े टुकड़े क्यों न हो गये?

यहाँ अप्रस्तुत वाच्य सर्पवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य उस दुष्ट सेवक की अभिव्यञ्जना है जो चिरकाल पर्यन्त अपने प्रभु के पास सुखपूर्वक रहने के बाद उसे विपत्तिकाल में छोड़कर भाग खड़ा हुआ है। अतः अप्रस्तुतप्रशंसालङ्कार है।

सन्तोषः किमशक्तता किमथवा तस्मिन्नसम्भावना
लोभो वायमुतानवस्थितिरियं प्रद्वेष एवाथवा।
आस्तां खल्वनुरूपया सफलया पुष्पश्रिया दुर्विधे
सम्बन्धोऽननुरूपयाऽपि न कृतः किं चन्दनस्य त्वया॥२६॥

(हे) दुर्विधे! अनुरूपया सफलया पुष्पश्रिया चन्दनस्य सम्बन्धः खलु आस्ताम् (किन्तु) अननुरूपयाऽपि (पुष्पश्रिया चन्दनस्य) सम्बन्धः त्वया किं न कृतः? (अत्र को हेतुः?) किं सन्तोषः (सञ्जातः)? किम् अशक्तता अथवा तस्मिन् असम्भावना अयं लोभो वा उत इयम् अनवस्थितिः अथवा प्रद्वेष एव।

यस्य कस्यचिन्निरतिशयगुणसमृद्धस्य दोषवद्भावेन निर्विण्णो विधिं प्रत्याह—सन्तोष इति। हे दुर्विधे! त्वया चन्दनस्यानुरूपया सौगन्ध्यादिनाऽनुगुणया अत एव सफलया साफल्यं प्राप्तया पुष्पश्रिया कुसुमसमृद्ध्या सम्बन्धो न कृत इत्येतदास्तां तिष्ठतु। खलु शब्दः प्रसिद्धौ। गुणवत्सम्बन्धस्य दुर्लभत्वादिति भावः। अननुरूपया सौगन्ध्यादिराहित्येनाननुगुणयाऽपि पुष्पश्रिया सम्बन्धः किं कारणं न कृतः? कारणं तु न दृश्यत इत्यर्थः। सर्वस्यापि कार्यस्य कारणजन्यत्वेना-

वश्यकारणत्वेन भवितव्यम् । इत्येतदेव बहुधोत्प्रेक्ष्यते सन्तोष इत्यादिना । सन्तोषः किमेतावदेवास्य पर्याप्तम् अतः परं न विधेयमित्यलं बुद्धिः । किमशक्तता सामर्थ्याभावः किमु ? अथवेति पक्षान्तरम् । अस्मिन् चन्दनतरौ । असम्भावना अवज्ञा वा । वा शब्दो विकल्पे अयं परिदृश्यमानः अनवधिर्लोभो वा । सर्वगुणप्रधानेऽस्माकं निर्गुणता भविष्यतीत्येवंरूपा लुब्धता वा । उत अथवा । अनवस्थितिश्चञ्चलता । किमथवा प्रद्वेषः । विरक्तत्वमेवेति न ज्ञायते । तत्कथ्यतामिति । सगुणानामपि निर्भाग्यत्वान्न पुत्रादिसमृद्धिरस्तीति भावः ।

अरे दुष्ट विधाता ! अनुरूप फल लाने वाली पुष्पसमृद्धि की बात तो दूर रही, तुमने अननुरूप (सुगन्धरहित फूलों की सम्पत्ति से भी) चन्दन को युक्त नहीं किया ! क्या तुम्हें सन्तोष हो गया था, या सामर्थ्य नहीं था या उसके प्रति आदरभाव नहीं था या लोभ आ गया था या चंचलता आ गई थी या उसके प्रति द्वेष हो गया था ?

यहाँ चन्दन में पुष्पश्री के अभाव रूप कार्य के लिए सन्तोष आदि अनेक पदार्थों की कारणता होने से काव्यलिङ्ग अलङ्कार है । अप्रस्तुत वाच्य चन्दन-वृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य परम वैभवशाली किन्तु सन्तानहीन व्यक्ति की प्रतीति होने से यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है ।

किं जातोऽसि चतुष्पथे घनतरच्छायोऽसि किं छायया
संयुक्तः फलितोऽसि किं फलभरैः पूर्णोऽसि किं सन्नतः ।
हे सद्वृक्ष सहस्व सम्प्रति सखे शाखाशिखाकर्षण-
क्षोभामोटनभञ्जनानि जनतः स्वैरेव दुश्चेष्टितैः ॥३७॥

हे सद्वृक्ष ! चतुष्पथे किं जातः असि ? घनतरच्छायः किम् असि ? छायया किं संयुक्तः (असि) ? फलभरैः किं फलितः असि ? पूर्णः (सन्) सन्नतः किम् असि ? हे सखे सम्प्रति स्वैरेव दुश्चेष्टितैः जनतः शाखाशिखाकर्षणक्षोभामोटनभञ्जनानि सुतरां सहस्व ।

परोपकारशीलस्य तदनुषङ्गापतितव्यसनतासहत्वे यशः प्रभृतिहेतुरित्याह — किं जात इति । सखे प्राणसम हे सद्वृक्ष ! यदाहुः—समप्राणः सखा मतः इति । सुजनोऽपि प्रतीयते । चतुष्पथे चतुर्मार्गसमाहारे । किं किं कारणं जातोऽसि । अत्र

चतुष्पथशब्देन जननीजनकयोर्मातापितरौ लक्ष्येते। किं कारणं घनतरा बह्वी छायाऽनातपः कान्तिश्च यस्य स तथोक्तोऽसि। छायासन्नद्धः सहितः सन् किं फलितः सञ्जातफलोऽसि। तैः फलभरैः पूर्णोऽसि। अन्यत्र धनचयैश्च प्रवृद्धो भवसि। अथ किं सन्नतोऽसि नम्रोऽसि। अन्यत्र विनीतोऽसि। सम्प्रतीदानीं स्वैः स्वकीयैर्दुश्चेष्टितैरिति सोल्लुण्ठनं वचनम्। जनतो जनात् सकाशात्। शाखानां शिफा जटा अथवा शाखाशिखाव्रातानां शाखाग्राणाम्। आकर्षणम् क्षोभः प्रकम्पनमामोटनं छेदनं भञ्जनं मर्दनं चेत्येतानि सहस्व तितिक्षस्व। स्वयं कृतापराधापतितव्यसनेषु सहनमेव प्रतीकार इत्यर्थः। याचका हि गुणिनो दातुश्चेलाञ्चलं गृहीत्वा आकर्षादिचेष्टां कुर्वन्तीति भावः।

अरे भले वृक्ष! तुम चौराहे पर क्यों उत्पन्न हुए? बहुत अधिक घनी छाया वाले क्यों हुए? यदि छायायुक्त थे तो फिर फले क्यों? फलयुक्त होने पर विनम्र क्यों हुए? अब अपने बुरे कर्मों के फलस्वरूप लोगों द्वारा शाखारूपी चोटी के खींचे जाने, हिलाने, तथा मरोड़े तोड़े जाने का कष्ट सहो।

यहाँ आपाततः सद्वृक्ष की निन्दा प्रतीत हो रही है जोकि अन्त में स्तुति में परिणत हो जाती है अत एव व्याजस्तुति अलङ्कार है। यहाँ अप्रस्तुत वाच्य सद्वृक्षवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य स्वार्थहीन परोपकारशील व्यक्ति की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है।

सन्मूलः प्रथितोन्नतिर्घनलसत्छायः स्थितः सत्पथे
सेव्यः सद्भिरितीदमाकलयता तालोऽध्वगेनाश्रितः।
पुंसः शक्तिरियत्यसौ तु फलेदद्याथवा श्वोऽथवा
काले क्वाप्यथवा कदाचिदथवा न त्वेव वेधाः प्रभुः॥३८॥

सन्मूलः, प्रथितोन्नतिः, घनलसत्छायः, सत्पथे स्थितः, सद्भिः सेव्य इति इदम् आकलयता अध्वगेन तालः आश्रितः। पुंसः इयती शक्तिः। असौ अद्य फलेत् अथवा श्वः फलेत् क्वापि (सन्निकृष्टे) काले अथवा कदाचित् (विप्रकृष्टे काले) फलेत् (इत्यत्र) वेधा तु न प्रभुः एव।

सत्प्रभुसेवायामपि फलं दैवायत्तमेवेत्याह—सन्मूलः प्रथितोन्नतीति। सता प्रशस्तेन मूलेन कुलेन प्रथिता प्रसिद्धा उन्नतिरुच्छ्रायः। अन्यत्र प्रसिद्धश्च यस्य सः तथोक्तः। घनतरा अतिभूयसी छायाऽनातपः कान्तिश्च यस्य स तथोक्तः। सत्पथे जनसंचारभूयिष्ठे सदाचारमार्गे च स्थितः। अत एव सद्भिर्विद्यमानैश्च

सेव्य आश्रयणीय इतीदमाकलयता विचारयता अध्वगेन पान्थेन तालस्तालतरुराश्रितः सेवितः। इयती एतावती। असौ शक्तिः पुंसः पुरुषस्य सम्बन्धिनी। स तु वृक्षः पुमांश्च प्रतीयते। अद्यैव फलेत् फलितो भवेत्। अथवा श्वः परेऽहनि फलेत्। अथवा क्वापि संनिकृष्टे काले फलेत्। अथवा वा शब्दः पक्षान्तरे। कदाचित् विप्रकृष्टे काले वा फलेत्। इत्यत्र फलपरिज्ञाने वेधास्तु ब्रह्मापि न प्रभुर्न समर्थः। ब्रह्मापि फलकालं न ज्ञातुं शक्नोतीत्यर्थः। कुलशीलौदार्यादिगुणवन्तः प्रभवः सेव्याः सेविता अपि कदा वा दद्युरिति न ज्ञातुं शक्यत इति भावः।

यात्री ने यह सोचकर ताल वृक्ष का आश्रय लिया कि इसकी जड़ें अच्छी हैं (अच्छे वंश का व्यक्ति है), ऊँचाई प्रसिद्ध है (उन्नति बहुत है), घनी छाया है (सुन्दर कान्ति है), ठीक रास्ते पर खड़ा है (सदाचारमार्गस्थित है), सजनों से भोगे जाने योग्य है (सज्जनों से सेवा किए जाने योग्य है)। मनुष्य की इतनी शक्ति है। आगे यह आज फल दे या कल या जल्दी या देर से यह जानने में तो ब्रह्मा समर्थ ही नहीं है।

यहाँ सन्मूल, उन्नति, छाया और सत्पथ इन शब्दों के द्व्यर्थक होने से श्लेष है। अप्रस्तुत वाच्य तालफलवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य दैवाधीन सत्प्रभुसेवाफल की प्रतीति होने से श्लेषमूलक अप्रस्तुतप्रशंसा है।

त्वन्मूले पुरुषायुषं गतमिदं देहेन संशुष्यता
क्षोदीयांसमपि क्षणं परमतः शक्तिः कुतः प्राणितुम्।
तत्स्वस्त्यस्तु विवृद्धिमेहि महतीमद्यापि का नस्त्वरा
कल्याणिन् फलिताऽसि तालविटपिन् पुत्रेषु पौत्रेषु वा॥३६॥

हे तालविटपिन्! त्वन्मूले संशुष्यता देहेन (सह) इदं पुरुषायुषं गतम्। अतः परं क्षोदियांसम् अपि क्षणं प्राणितुं शक्तिः कुतः? तत् (ते) स्वस्ति अस्तु, महतीं विवृद्धिम् एहि? अद्यापि नः का त्वरा? हे कल्याणिन्, पुत्रेषु पौत्रेषु वा फलितासि।

कश्चित् बहुकालकृतयाप्यफलया लुब्धसेवया व्यथितान्तःकरण आह—त्वन्मूल इति। तालविटपिन्! तालद्रुम! त्वन्मूले अधनप्रदेशे अन्यत्र पादमूले च। संशुष्यता अनशनादिना कार्श्यं लभता गात्रेण शरीरेण सहेदं पुरुषायुषं महीयान् कालः। अचतुरादिसूत्रेण पुरुषायुषशब्दोऽकारान्तः। साधु गतं नीतम्। अतः परमस्मादुपरि क्षोदीयांसमत्यल्पमपि क्षणं कालम्। कालाध्वनोरत्यन्तसंयोग इति द्वितीया। जीवितुं प्राणितुम्। शक्तिः सामर्थ्यम्। कुतः नास्तीत्यर्थः।

ते तुभ्यं स्वस्त्यस्तु मङ्गलं भवतु । नमः स्वस्तीत्यादिना चतुर्थी । महतीं सम्पदमृद्धिमेहि प्राप्नुहि इरणः कर्तरि लोटि रूपम् । अद्यापि का त्वरा वेगः । का त्वरेति सोल्लुण्ठनं वचनम् । पुत्रेषु पौत्रेषु वा कल्याणैः प्राग्भवीयैस्तदुपार्जितैः शुभकर्मभिः करणैः । फलितासि फलितो भविष्यसि । फल् निष्पत्तावित्यस्य धातोर्लुटि रूपम् । एकः कर्मकर्ता फलभाक् तदन्यो भवति इति धिक् प्रभुसेवामिति भावः ।

हे ताल वृक्ष ! तुम्हारे मूल में अपना शरीर सुखाते हुए यह पूरी आयु बिता दी है । इससे आगे ज़रा सी भी जीने की शक्ति कहाँ ? हे कल्याणकारिन् ! तुम्हारा भला हो, तुम बहुत वृद्धि को पाओ । अभी क्या जल्दी है ? हमारे पुत्र पौत्र को फल देना ।

यहाँ अप्रस्तुत वाच्य तालवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य किसी कृपण प्रभु की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा है । साथ ही स्वस्ति, विवृद्धि और कल्याणिन् इन स्तुतिपरक पदों से निन्दा की अभिव्यक्ति होने से व्याजस्तुति अलङ्कार है । इस प्रकार यहाँ व्याजस्तुति और अप्रस्तुतप्रशंसा का अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर है ।

पश्यामः किमयं प्रपत्स्यत इति स्वल्पाभ्रसिद्धक्रियै-
दर्पाद् दूरमुपेक्षितेन बलवत्कर्मेरितैर्मन्त्रिभिः ।
लब्धात्मप्रसरेण रक्षितुमथाशक्येन मुक्त्वाशनिं
स्फीतस्तादृगहो घनेन रिपुणा दग्धो गिरिग्रामकः ॥४०॥

(वयं) पश्यामः अयं किम् (अर्थम्) प्रपत्स्यत इति स्वल्पाभ्रसिद्धक्रियैः बलवत्कर्मेरितैः मन्त्रिभिः दर्पाद् दूरम् उपेक्षितेन लब्धात्मप्रसरेण अथ रक्षितुम् अशक्येन रिपुणा घनेन अहो तादृक् स्फीतः गिरिग्रामकः अशनिं मुक्त्वा दग्धः ।

स्वल्पोऽप्युपेक्षितः शत्रुः समूलं नाशयति न प्रतिकर्तव्यश्च भवतीत्याह— पश्याम इति । अयं दृश्यमानो घनः किमर्थं प्रपत्स्यते ? आगमिष्यति नेत्यर्थः । पश्यामः तदा मेने । प्रतीकारं द्रक्ष्याम इति दर्पाद् दूरमत्यन्तमुपेक्षितेन स्वल्पैर्मन्दं यथा तथा अभ्रे गगने सिद्धा निष्पन्ना क्रिया सञ्चाररूपायेषां तैस्तथोक्तैः । वायुः खल्वाकाशे सञ्चरति । बलवता प्रबलेन कर्मणा गमनहेतुना । ईरितैर्नोदितैः करणैर्लब्ध आत्मनः स्वस्य प्रसरः परिप्राप्तिर्येन तेन तथोक्तेन समागतेनेत्यर्थः । अथानन्तरम् । रक्षितुं प्रतिकर्त्तुमशक्येन अशक्यविषयेण महता घनेन कर्त्रा । स्फीतः प्रवृद्धः । तादृक् तथाविधः । गिरेर्ग्रामः गिरिग्रामकः । अत्र गिरिग्रामशब्देन मञ्चाः

क्रोशन्तीतिवल्लक्षणया पर्वतशृङ्गे स्थितो जनो लक्ष्यते। अशनिं मुक्त्वा प्रयुज्य तत्प्रयोगेन विनेति च ध्वन्यते। दग्धः प्लुष्टः। अभिहतो वा अहो आश्चर्यम्। समृद्धोऽप्यलसो भूपतिः परेण परिभूयत इति भावः।

(हम) देख लेंगे यह क्यों आयेगा ?—इस प्रकार सोचकर थोड़ी-सी आकाश-सिद्धिक्रिया करने वाले, बलशाली कर्म में प्रेरित किये गये मन्त्र जानने वालों ने अभिमान के कारण बादल की अत्यन्त उपेक्षा की। अपने पहुँचने का (मौका पाए हुए) और अब जिससे बचाव नहीं हो सकता था (या जिसका मुकाबला नहीं किया जा सकता था) ऐसे शत्रु मेघ ने बिजली गिराकर वह समृद्ध पहाड़ी गाँव जला दिया।

यहाँ अप्रस्तुत वाच्य घनगिरिग्रामवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य तुच्छ समझ कर उपेक्षित किये गये शत्रु द्वारा नाश को प्राप्त व्यक्ति के वृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है।

साधूत्पातघनौघ साधु सुधिया ध्येयं धरायामिदं
कोऽन्यः कर्तुमलं तवैव घटते कर्मेदृशं दुष्करम्।
सर्वस्यौपयिकानि यानि कतिचित् क्षेत्राणि तत्राशनिः
सर्वानौपयिकेषु दग्धसिकतारण्येष्वपां वृष्टयः ॥४१॥

हे उत्पातघनौघ ! साधु सुधिया (त्वया) ध्येयम् (यत्) धरायाम् ईदृशं साधु दुष्करं कर्म अन्यः कः कर्तुम् अलम् ? सर्वस्य औपयिकानि यानि कतिचित् क्षेत्राणि तत्र (त्वया) अशनिः (पात्यते अथ च) सर्वानौपयिकेषु दग्धसिकतारण्येषु अपां वृष्टयः (दीयन्ते)।

अपात्रं प्रति दानं न कर्तव्यमित्याह—उत्पातघनौघ ! संहारसमयमेघवृन्द ! सुधिया धीमता कर्त्रा। धरायां भूमौ। साधु समीचीनं कृत्यं साधु सम्यगेव विचिन्तनीयम्। त्वदर्थः को वा इदं कर्म कर्तुमलमिति काकुः। दुष्करं कर्तुमशक्यमीदृशमेवंविधं कर्म घटते युज्यते। किं तत्कर्म इत्यत आह—सर्वस्य लोकस्यौपयिकानि उपयोगभूतानि उपयुक्तानीति यावत्। विनयादिपाठादुपायशब्दात् स्वार्थे ठक् प्रत्ययः। उपायाद् ह्रस्वं चेति ह्रस्वः। यानि कतिचित् कियन्ति क्षेत्राणि सन्ति। तत्र केषु क्षेत्रेषु अशनिः पतितः। तनुवृष्टिरित्यर्थः। सर्वानौपयिकेषु सर्वस्यानुपयुक्तेषु। दग्धेषु दावाग्निप्लुष्टेषु। सिकतेषु वालुकासु अरण्येषु च। अपां जलानाम्। वृष्टयः दीयन्ते इति शेषः। उत्पातघनत्वात्तवैवेदमुचितमित्यर्थः। प्रायेण दातारः पात्रेषु न ददति। किन्त्वपात्रेष्वेवात्यर्थं ददतीति भावः।

अरे संहारक (अपशकुनसूचक) मेघसमूह ! तुम्हें (बहुत अधिक) शाबाशी (दे रहे हैं)। (अपने को) बहुत अधिक बुद्धिमान् (मानने वाले) तुम्हें यह बात समझ लेनी चाहिए कि (इस) पृथिवी पर इस अच्छे कार्य को तुम्हारे सिवाय दूसरा कौन करने में समर्थ है ? सबके उपयोग में आने वाले जो कुछ (थोड़े बहुत) खेत हैं वहाँ (तो तुम्हारे द्वारा) बिजली (गिराई जा रही) है (और) सबके लिए अनुपयोगी जले हुए और रेत से भरे हुए जंगलों में जलों की वृष्टियाँ (प्रदान की जा रही) हैं।

यहाँ उपयोगी क्षेत्रों पर बिजली गिराना और अनुपयोगी स्थलों पर वृष्टिपात करना इन दो अननुरूप घटनाओं के कारण विषमालङ्कार है तथा अप्रस्तुत वाच्य मेघवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य सुपात्र को दान न करके कुपात्र को दान देने वाले धनी व्यक्ति की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है। 'साधु' तथा 'ईदृशं दुष्करं कर्म' इन पदों के द्वारा विपरीत लक्षणा से निन्दा की अभिव्यक्ति हो रही है।

लब्धायां तृषि गोमृगस्य विहगस्यान्यस्य वा कस्यचिद्
वृष्ट्या स्याद् भवदीययोपकृतिरित्यास्तां दवीयस्यदः।
अस्यात्यन्तमभाजनस्य जलदारण्योषरस्यापि किं
जाता पश्य पुनः पुरेव परुषा सैवास्य दग्धा छविः ॥४२॥

(हे) जलद ! गोमृगस्य विहगस्य अन्यस्य वा कस्यचिद् तृषि लब्धायां भवदीयया वृष्ट्या उपकृतिः स्यात् इति अदः दवीयसि आस्ताम्। अत्यन्तम् अभाजनस्य अस्य आरण्योषरस्यापि ते वृष्ट्या किं (जातम् ?) पश्य, अस्य सैव छविः पुनः पुरेव परुषा दग्धा (च) जाता।

यः परेषां नोपकरोति स नोपकर्तेत्याह—लब्धायामिति हे जलद। गोरुक्षादे र्मृगस्य कृष्णसारादेः। विहगस्य पक्षिणः काकादेरन्यस्य वा कस्यचित्प्राणिनः कृमिदंशादेः। तृषि तृष्णायां लब्धायाम्। सञ्जातायां सत्याम्। भवदीयया त्वत्सम्बन्धिन्या। त्यदादीनि चेति वृद्धत्वं वृद्धाच्छ इति वृष्ट्या उपकृतिरुपकारः स्याद् भवेत्। इत्यतेद् दवीयसि दूरे आस्ताम् तिष्ठतु। अत्यन्तमतितरामभाजनस्यापात्रस्यारण्योषरस्यास्य ते वृष्टयाकिम् ? न किमपीत्यर्थः। पुनः किन्तु पुरैव पूर्वमेव परुषा कठिना सैषा सेयमारण्योषरस्य छविर्दग्धा हता जाता। वृष्ट्याप्तं किल शैवलावरणेन श्यामीभूता चेत्यर्थः। अपात्रे दीयमाने दातुः स्वीकर्तुश्च न किमपि प्रयोजनं स्यात् किन्तु स्वीकर्तुः प्रत्यवायो भवेदिति भावः।

हे मेघ ! नीलगाय अथवा बैल और हरिण, पक्षी या किसी दूसरे प्राणी को प्यास लगने पर आपकी वर्षा से उपकार हो जायेगा इस प्रकार की बात तो बहुत दूर की होगी (अर्थात् तुम किसी की प्यास बुझा सको इसकी तुमसे आशा रखनी व्यर्थ है)। अत्यन्त असत्पात्र इस ऊसर जंगल को भी (तुम्हारी वर्षा से) क्या (लाभ) हो पाया है ? देखो तो इसकी वही पुरानी आकृति दोबारा पहले की तरह सूखी और जली जली हो गई है।

यहाँ अप्रस्तुत वाच्य जलदवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य कुपात्र और सुपात्र का विवेक न करने वाले अविवेकी दानशील व्यक्ति के वृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है।

सन्त्यज्य पानाचमनोचितानि तोयान्तराण्यस्य सिसेविषोस्त्वाम्।
निजैर्न, जिह्रेषि जलैर्जनस्य जघन्यकार्यौपयिकैः पयोधे ॥४३॥

(हे) पयोधे ! पानाचमनोचितानि तोयान्तराणि सन्त्यज्य त्वां सिषेविषोः अस्य जनस्य जघन्यकार्यौपयिकैः निजैः जलैः त्वं (किं) न जिह्रेषि ?

योऽत्यन्तसमृद्धोऽपि न कस्याप्युपकरोति तन्निराकरणायाह—सञ्चिन्त्येति। हे पयोधे समुद्र ! पानाचमनयोरुचितानि योग्यानि तोयान्तराणि अन्यानि जलानि सञ्चिन्त्य विचार्य त्वां सिषेविषोस्सेवितुमिच्छोरस्य जनस्य जघन्ये निकृष्टे कार्ये। गुदप्रक्षालनादौ। औपयिकैरुपायभूतैरुपकारकैरिति यावत्। विनयादिपाठाट्ठक्। उपायाद्ध्रस्वश्चेति ह्रस्वः। निजैः स्वकीयैर्जलैः न जिह्रेषि न लज्जसे। लज्जायामपेयजलवत्ता हेतुरित्यनुसन्धेयम्। सतां सत्कर्मानर्हं दुष्टस्य दुर्धनसन्दोहं धिगिति भावः।

(हे) समुद्र ! पीने और कुल्ला करने योग्य दूसरे (कूपादि के) जलों को छोड़कर तुम्हारे (जल के) सेवन की अभिलाषा रखने वाले इस मनुष्य के सामने निकृष्ट कार्यों को सम्पन्न करने वाले (अर्थात् गुदादि को ही धोने वाले अपने इन) जलों से तुम (क्यों) लज्जित नहीं हो रहे हो ?

यहाँ अपेय जलवत्ता रूप हेतु के होते हुए भी लज्जा रूपी कार्य की उत्पत्ति नहीं हो रही है अतएव यहाँ विशेषोक्ति अलङ्कार है। अप्रस्तुत वाच्य पयोधिवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य अनुपकारक समृद्धव्यक्ति की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार भी है।

आस्त्रीशिशु प्रथित एष पिपासितेभ्यः
संरक्ष्यतेऽम्बुधिरपेयतयैव दूरात् ।
दंष्ट्राकरालमकरालिकरालिताभिः
किं भाययत्यपरमूर्मिपरम्पराभिः ॥४४॥

आस्त्रीशिशु प्रथितः (यत्) पिपासितेभ्यः अपेयतया एव एष अम्बुधिः दूरात् संलक्ष्यते (तथापि) दंष्ट्राकरालमकरालिकरालिताभिः ऊर्मिपरम्पराभिः (एष) अपरं किं भाययति ?

योऽत्यन्तलुब्धोऽपि दौवारिकादिभिः परान् निरुणद्धि तद्विडम्बनायाह—आस्त्रीशिशु प्रथित इति । एषोऽम्बुधिः समुद्रः स्त्रीबालमारभ्य । आङ्मर्यादाभिविध्योरित्यभिविधावव्ययीभावः । पिपासितेभ्यस्तृष्णार्तेभ्यः । अपेयतया अपेयजलत्वेन । प्रथितः प्रसिद्ध एव दूरात् संलक्ष्यते परिदृश्यते । तथापि दंष्ट्राभिः कराला उत्तुङ्गा ये मकरास्तेषामालयः पङ्क्तयः ताभिः करालिताभिर्भीषणीकृताभिः । ऊर्मिणां तरङ्गाणां परम्पराभिः करणैः । अपरमन्यं जनं किं किमर्थमुद्वेजयसि ? ञिभी भय इत्यस्माद्धातोर्ण्यन्ताल्लटो भियो हेतुभये । भीषणे कारणं न दृश्यत इत्यर्थः । निर्गुणोऽधिकारिपुरुषादिःस्वभावादनधिगम्योऽपि दौवारिकसूचकादिपरिवृतः सन्नतीवानधिगम्यो भवतीति भावः ।

स्त्री बच्चों से लेकर (बुज़ुर्गों तक) यह बात प्रसिद्ध है (कि) यह समुद्र प्यासे व्यक्तियों के लिए अपेय (जल वाला) होने के कारण ही दूर से देखा जाता है (इसके खारे जल के कारण ही कोई इसके पास नहीं जाता है । फिर भी) दाढ़ों के कारण भयङ्कर मकरसमूह के द्वारा भीषण बनाई गई तरङ्गश्रेणियों से यह दूसरे व्यक्तियों को क्यों डराता है ?

यहाँ दूसरों को भगाने के लिए अपेय (खारा) जल हेतु ही पर्याप्त है । इसके साथ करालदंष्ट्रायुक्त मकरों तथा भयंकर तरङ्गों रूप अन्य भय के हेतुओं के आ जाने से यहाँ समुच्चय अलङ्कार है । अप्रस्तुत वाच्य क्षाराम्बुधिवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य दौवारिकादि से परिवृत कृपणनृपवृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार भी है ।

स्वमाहात्म्यश्लाघागुरुगहनगर्जाभिरभितः
क्रुशित्वा क्लिश्नासि श्रुतिकुहरमब्धे किमिति नः ।

इहैकश्चूडालो ह्यजनि कलशाद्यस्य सकलैः
पिपासोरम्भोभिश्चुलुकमपि नो भर्तुमशकः ॥४५॥

हे अब्धे ! स्वमाहात्म्यश्लाघागुरुगहनगर्जाभिः अभितः क्रुशित्वा नः श्रुतिकुहरं किमिति क्लिश्नासि ? इह एकः चूडालः कलशात् अजनि । पिपासोः यस्य चुलुकमपि त्वं सकलैः अम्भोभिः भर्तुं नो अशकः ।

यः स्वश्लाघानिरतस्सन् परान् नाद्रियते तद्दूषणायाह—स्वमाहात्म्यश्लाघेति । हे अब्धे ! स्वमाहात्म्यश्लाघागुरुगहनगर्जाभिः स्वस्यात्मनो माहात्म्यं महत्ता तस्य श्लाघा स्तुतिः तया गुरवो महत्यो या गहनगर्जा गम्भीरध्वनयस्ताभिरन्यत्र भर्त्सनादिभिरित्यर्थः । अभितः सर्वतः क्रुशित्वा ध्वनित्वा । अन्यत्र समाहूय नोऽस्माकम् । श्रुत्योः कर्णयोः कुहरं रन्ध्रं किमिति किमर्थं क्लिश्नासि बाधसे ? कर्णकठोरं ब्रवीषीत्यर्थः । इह जगति । एकश्चूडालः चूडा शिखा अस्यास्तीति चूडालः पटुः । सिध्मादिपाठात् चूडाशब्दान्मत्वर्थे लच्प्रत्ययः । अजनि उत्पन्नः । दीपजनेत्यादिना कर्तरि चिण् प्रत्ययः । सकलैरम्भोभिः भवदीयैर्जलैः पिपासोस्तृष्णार्तस्य यस्य चूडालस्य चुलुकमपि करतलाभ्यन्तरमपि भर्तुं पूरयितुं नो अशकः समर्थो न । शकेः कर्तरि लुङ् । पुषादीत्यादिना च्लेरङादेशः । पुरा किल भगवानगस्त्यः सागरं पीतवानिति पौराणिकी प्रसिद्धिः । अनेनात्मश्लाघापरस्य निकृष्टस्याहङ्कारो निराकृत इति भावः ।

अरे समुद्र ! अपने बड़प्पन की प्रशंसा से (गर्वित होकर) बड़े गम्भीर गर्जनों से हमारे कानों को फाड़ फाड़कर क्यों कष्ट दे रहे हो ? यहाँ एक जटाधारी वह (समर्थ एवं प्रभावशाली) तपस्वी कलश से उत्पन्न हुआ था जिस प्यासे की एक चुल्लू भी (तुम अपने) जलों से नहीं भर सके थे ।

यहाँ अप्रस्तुत वाच्य अब्धिवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य आत्मश्लाघापरायण किसी निकृष्ट व्यक्ति के वृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है ।

सर्वासां त्रिजगत्यपामियमसावाधारता तावकी
प्रोल्लासोऽयमथाम्बुधेऽम्बुनिलये सेयं महासत्त्वता ।
सेवित्वा बहुभङ्गभीषणतनुं त्वामेव वेलाचल-
ग्रावस्रोतसि पान्तापकलहो यत्क्वापि निर्वाप्यते ॥४६॥

हे अम्बुधे ! त्रिजगति सर्वासाम् अपाम् तावकी इयमसौ आधारता अथ (च) अम्बुनिलये अयं प्रोल्लासः, सा इयं महासत्त्वता। (परन्तु लोकैः) बहुभङ्गभीषणतनुं त्वामेव सेवित्वा पानतापकलहः वेलाचल-ग्रावस्रोतसि यत्क्वापि निर्वाप्यते।

दुष्प्रभुसकाशाद् दुष्परिग्रहजं दुःखं सुजनमन्यं वदान्यमासाद्य परिहीयत इत्याह—सर्वासामिति। हे अम्बुधे! समुद्र! राजा च प्रतीयते। त्रिजगति लोकत्रये या आपः सन्ति तासां जलानां तावकी त्वत्संबन्धिनी इयमाधारता आश्रयत्वम्। यदाह आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम् इति। अन्यत्र सर्वजनाश्रयत्वं ध्वन्यते। अम्बूनां पयसां निचये समूहे अयं परिदृश्यमानः प्रोल्लासो विजृम्भणम्। अन्यत्र प्रोल्लासो हर्षः। अम्बुनिचयशब्देन धनसमूहो ध्वन्यते। सा तथाविधा इयं परिदृश्यमाना महासत्त्वता मकरादिमहाप्राणिमत्ता। अन्यत्र महाबलवत्ता दृश्यते। किंच बहुभङ्गभीषणतनुं बहुभिर्नानाविधैर्भङ्गैस्तरङ्गैर्भर्त्सनादिभिः पराभवैश्च भीषणा भयावहा तनुर्देहो यस्य तं त्वामेव सेवित्वा सम्प्राप्य। पानतापकलहः पानेन जनितस्तापः पानतापः तेन सञ्जनितो यः कलहः क्लेशः। कलहस्य क्लेशहेतुत्वात् कलहशब्देन क्लेशो लक्ष्यते। यत्र क्वापि वेलायां स्थितोऽचलः पर्वतः तत्र ग्रावाणः पाषाणाः तेषु यत्स्रोतो जलप्रवाहः तत्र निर्वाप्यते शमं नीयते वपतेर्ण्यन्तात् कर्मणि लट्। दुष्टस्य धनं न बह्वपि परोपभोगाय[1]। सतस्तु तन्मितमपि न तथेति भावः।

हे समुद्र! तीनों लोकों में समस्त जलों की तुम्हारे आधार बनने की वह यह बात (प्रसिद्ध) है और (तुम्हारे भीतर) जलसमूह में यह ज्वार (तूफान आया करता) है तथा तुम्हारे अन्दर बड़े बड़े (मकरादि) प्राणियों की वह यह उपस्थिति है। (परन्तु मनुष्यों के द्वारा) अनेक लहरों के कारण भयङ्कर शरीर वाले तुम्हारे (खारे जलों के) ही सेवन को करके (इनके) पीने से उत्पन्न सन्ताप का क्लेश तटवर्ती पर्वत की पथरीली (नदी की) जलधारा में जहाँ कहीं भी (पहुँचकर) शान्त किया जाता है।

यहाँ अप्रस्तुतवाच्य अम्बुधिवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य समृद्ध कृपण व्यक्ति की अनुपयोगिता तथा स्वल्पधन सज्जन की उपयोगिता की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है। प्रोल्लास और महासत्त्वता पदों में श्लेष है। इस कारण यह अप्रस्तुतप्रशंसा श्लेषमूलक है।

नोद्वेगं यदि यासि यद्यवहितः कर्णं ददासि क्षणं
त्वां पृच्छामि यदम्बुधे किमपि तन्निश्चित्य देह्युत्तरम् ।
नैराश्यातिशयातिमात्रनिभृतैर्निःश्वस्य यद् दृश्यसे
तृष्यद्भिः पथिकैः कियत्तदधिकं स्यादौर्वदाहादतः ॥४७॥

(हे) अम्बुधे ! यदि उद्वेगं न यासि । यदि अवहितः क्षणं कर्णं ददासि (तर्हि अहं) त्वां यत्किमपि पृच्छामि तत् निश्चित्य उत्तरं देहि । नैराश्यातिशयातिमात्रनिभृतैः तृष्यद्भिः पथिकैर्निःश्वस्य यत् (त्वं) दृश्यसे तत् (दर्शनं) अतः औौर्वदाहात् कियत् अधिकं स्यात् ?

यस्तु धनवानप्यर्थिभिरलब्धमनोरथैः सविषादमालोक्यते तद्विडम्बनायाह—नोद्वेगमिति । हे अम्बुधे समुद्र ! प्रभुरपि प्रतीयते । यद्युद्वेगं मनस्तापं न यासि न गच्छसि वक्ष्यमाणस्यार्थस्यातीव परुषत्वादिति भावः । अवहित एकाग्रमनाः सन् क्षणं क्षणमात्रं यदि कर्णं ददासि प्रयच्छसि श्रोष्यसीत्यर्थः । तर्ह्यहं त्वां यत्किमपि वचो वचनं पृच्छामि । पृच्छते र्दुहियाचीत्यादिना द्विकर्मकता । तन्निश्चित्यावधार्य उत्तरं प्रतिवचनं देहि ब्रूहीत्यर्थः । तदेव प्रश्नस्वरूपं निरूपयति —तृष्यद्भिः पिपासितैः पथिकैरध्वगैर्नैराश्यातिशयातिमात्रनिभृतैः । सर्वथायमपेयजलः तस्य समीपं गत्वा तृट्प्रतीकारो न विधेय इत्येवम्भूतस्य निराशभावस्यातिशयेन प्रभूततया अतिमात्रमत्यर्थं निभृतं निश्चलं यथा निःश्वस्य थूत्कृत्य दृश्यसे प्रेक्ष्यसे इति यत् । तदतोऽस्मात्—औौर्वदाहात् औौर्वाग्निजनितात्सन्तापात् कियत् अधिकं भूयिष्ठं स्यात् वडवानलसञ्जातादप्यलब्धमनोरथपथिकजनवीक्षणस्तापो दुःसह इत्यर्थः । स्वकीयजनसन्तापात् परकीयस्तापो गरीयानितिभावो ध्वन्यते ।

हे समुद्र ! यदि तुम नाराज़ न होओ और क्षण भर ध्यान देकर सुनते हो तो मैं तुमसे थोड़ा बहुत जो पूछता हूँ उसका निश्चय करके उत्तर देना । निराशा के आधिक्य से बहुत चुपचाप रहने वाले प्यासे पथिकों के द्वारा आहें भर भर कर जो तुम्हें देखा जाता है वह दृष्टि वडवानल से कितनी अधिक (दुःसह) होती है !

औौर्वदाह (समुद्राग्नि) से होने वाले कष्ट की अपेक्षा निराश पथिकों की दृष्टि अधिक कष्टकारी होती है इस प्रकार यहाँ उपमेय की अपेक्षा उपमान के अधिक (औौर्वदाह की तुलना में पान्थदृष्टिदाह के अधिक कष्टकारक) होने से व्यतिरेकालंकार है । अप्रस्तुत वाच्य अम्बुधिवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य दान में अक्षम धर्मात्मा व्यक्ति के वृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार भी है ।

भिद्यतेऽनुप्रविश्यान्तर्यो यथारुच्युपाधिना ।
विशुद्धिः कीदृशी तस्य जडस्य स्फटिकाश्मनः ॥४८॥

तस्य जडस्य स्फटिकाश्मनः (इयं) कीदृशी विशुद्धिः ? यः (स्फटिकाश्मा) उपाधिना अन्तः अनुप्रविश्य यथारुचि भिद्यते ।

यः कश्चित्सुजनोऽपि कार्यवशेन खलमासाद्य स इव व्यवहरति । स सुजनो न भवतीत्याह—भिद्यत इति । यत्स्फटिकाश्म उपाधिना जपाकुसुमसम्बन्धेन यथारुचि स्वकान्तिमनतिक्रम्य । जपाकुसुमाद्यसन्निधाने स्वच्छतयाऽनपायादिति भावः । अन्तः स्वमध्ये अनुप्रविश्य । विशतेरन्तर्भावितण्यर्थात् क्त्वो ल्यप् भिद्यते भेदं नीयते अत्रापि भिदेरन्तर्भावितण्यर्थात् कर्मणि लट् । जडस्य शीतलस्य अन्यत्राज्ञस्य । स्फटिकाश्मनः स्फटिकशिलायाः । विशुद्धिः कीदृशी कथम्भूता । स्फटिको हि सङ्गवशेन विक्रियामेति । तथा सङ्गवशेन विकुर्वतः पुरुषस्य सुजनता दूरादेवापास्तेत्यर्थः ।

उस जड बिल्लौर पत्थर की (यह) कैसी स्वच्छता है ? जो (बिल्लौर मणि किसी) उपाधि (भूत वस्तु जपाकुसुमादि) के द्वारा भीतर प्रवेश करके इच्छानुसार विदीर्ण कर दिया जाता है ।

जब बिल्लौर मणि के निकट जपाकुसुम (एक प्रकार का लाल पुष्प) रख दिया जाता है तो यह श्वेत बिल्लौर मणि अपनी श्वेतिमा छोड़कर जपाकुसुम की लालिमा को धारण कर लेती है । यहाँ बिल्लौर मणि द्वारा अपना गुण छोड़कर दूसरी वस्तु के गुण को ग्रहण करने के कारण तद्गुण अलङ्कार है ।

अप्रस्तुत वाच्य स्फटिकमणिवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य किसी सज्जन की दुर्जनसंसर्ग से दोषप्राप्ति का वृत्तान्त सूचित होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार भी है ।

चिन्तामणे भुवि न केनचिदीश्वरेण
मूर्ध्ना धृतोऽहमिति मा स्म सखे विषीदः ।
नास्त्येव हि त्वदधिरोपणपुण्यबीज-
सौभाग्ययोग्यमिह कस्यचिदुत्तमाङ्गम् ॥४९॥

हे सखे चिन्तामणे ! भुवि केनचित् ईश्वरेण अहं मूर्ध्ना न धृतः—इति मा स्म विषीदः । हि इह त्वदधिरोपणपुण्यबीजसौभाग्ययोग्यं कस्यचित् उत्तमाङ्गम् एव न अस्ति ।

मान्यं यो न मानयति स एव मानहीन इत्याह—चिन्तामरण इति। हे चिन्तामणे चिन्तारत्न। अनेन सुजनो ध्वन्यते। त्वं भुवि केनचिदीश्वरेण प्रभुणा कर्त्रा। मूर्ध्ना मस्तकेन करणेन न धृतो न धृतवान्। सर्वेऽपि राजानः सर्वान् मणीन् शिरसा दधति न माम् एकोऽपीति चेतसि चित्ते विषादं मा स्म गमः! न प्राप्नुहि। स्मोत्तरपदे लङ् चेति चकाराद् गमेः कर्तरि लुङ्। तत्र हेतुमाह—त्वदधिरोपणं तवाधिरोहणं तत् पुण्यं प्राचीनं शुभकर्म। तदेव बीजं कारणम्। तेन सौभाग्यं सुभगता। तस्य योग्यं समुचितमुत्तमाङ्गं शिरः। कस्यचिदपि नास्त्येव। एवकारोऽवधारणे। यद्यस्ति चेत् कोऽपि वा बिभृयादित्यर्थः। सज्जनं प्रति सम्मानभाग्यं न सर्वेषामस्तीति भावः।

हे मित्र चिन्तामणि! इस बात का खेद मत करो कि इस पृथ्वी पर किसी राजा ने तुम्हें सिर पर धारण नहीं किया। तुम्हें धारण करने के पुण्य के कारण रूप सौभाग्य के योग्य मस्तक ही किसी का नहीं है।

किसी ईश्वर के द्वारा चिन्तामणि को सिर पर धारण न करने रूप कार्य का कारण किसी के मस्तक का सौभाग्याभाव हो जाने से यहाँ काव्यलिङ्ग अलंकार है तथा अप्रस्तुतवाच्य चिन्तामणिवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य सुयोग्य व्यक्ति की अवज्ञारूपवृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा है।

संवित्तिरस्त्यथ गुणाः प्रतिभान्ति लोके
तद्धि प्रशस्तमिह कस्य किमुच्यतां वा।
नन्वेवमेव सुमणे लुट यावदायु-
स्त्वं मे जगत्प्रसहनेऽत्र कथाशरीरम्॥५०॥

हे सुमणे (तव) संवित्तिः अस्ति अथ लोके गुणाः प्रतिभान्ति। इह प्रशस्तं तत् (गुणजातम्) कस्य वा किमुच्यताम्? ननु एवमेव त्वं यावदायुः मे लुट, अत्र जगत्प्रसह्ने कथाशरीरम्।

यः कश्चित्सुजनः प्रथितः सद्गुणोऽप्यसत्कृतो भवति तदाश्वासनायाह—संवित्तिरिति। सुमणे भोश्चिन्तामणे सुजनोऽपि ध्वन्यते। तव संवित्तिः सम्यग् ज्ञानमस्ति चिन्तितार्थप्रदानसामर्थ्यस्य सद्भावादिति भावः। अथानन्तरम्। गुणा दातृत्वादयो लोके प्रतीता भवन्ति प्रकाशन्ते। इह लोके प्रशस्तं प्रसिद्धं तद्गुणजातं कस्य वा किं कारणम्। उच्यतामित्यर्थः। नैवेत्यर्थः। अतिप्रसिद्धार्थस्य वक्तुमनुचितत्वादिति भावः। ननु चिन्तामणे त्वं मे मदर्थं यावदायुरायुर्याव-

दस्ति तावदित्यर्थः। यावदवधारणे इत्यव्ययीभावः। एवमेव सर्वोपकर्तृत्वेन लुठ उन्मिष प्रकाशयेति यावत्। गुणवतो वस्तुनः प्रकाशितुमुचितत्वादिति भावः। ननूत्पन्नस्यावश्यविनाशित्वादायुषोऽन्ते स्वरूपनाशे सति तदाश्रितं सर्वमपि गुणजातं विनङ्क्ष्यति। तत्किमनेन अल्पेन प्रकाशेनेति शंकायां भौतिकशरीरनाशेऽपि कीर्तिशरीरस्यापि नश्वरत्वेन न दोष इत्याह—जगत्प्रसहनैककथेति। जगतः सर्वस्यापि लोकस्य प्रसहनं प्रकर्षेण सहनम्। याचकयाच्ञाबाहुल्यस्यातीव तितिक्षेति यावत्। एकं तदेव कथा मुख्या वार्त्ता सैव ते शरीरं भविष्यतीति भावः। नश्वरात् भौतिकशरीरादपि अविनश्वरस्य कीर्तिशरीरस्यैवोपादानं वरम्। अतस्तेन नैरन्तर्येण प्रकाशनं युज्यत एवेति भावः।

(हे) सुन्दर मणि! (तुम्हारे पास) ज्ञान है। संसार में तुम्हारे गुण चमकते हैं। किसके गुण ऐसे प्रसिद्ध हैं? और किसके आगे क्या कहा जाय? जब तक तुम्हारी आयु है तब तक मेरे लिए ऐसे ही लुटो (चमको)। यहाँ जगत् के लिए (कष्ट) सहन करने की कथा ही तुम्हारा शरीर बनेगी अर्थात् तुम्हारी कीर्ति तुम्हारे समाप्त होने के बाद भी बनी रहेगी।

यहाँ अप्रस्तुत वाच्य सुमणिवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य किसी प्रसिद्ध गुणशाली किन्तु असत्कृत सज्जन के वृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है।

चिन्तामणेस्तृणमणेश्च कृतं विधात्रा
केनोभयोरपि मणित्वमदः समानम्।
नैकोऽर्थितानि ददन्नर्थिजनाय खिन्नो
गृह्णञ्जरत्तृणलवं तु न लज्जतेऽन्यः॥५१॥

केन विधात्रा चिन्तामणेः तृणमणेश्च उभयोरपि अदः समानं मणित्वं कृतम्? एकः अर्थिजनाय अर्थितानि ददन् खिन्नः न (भवति) अन्यः तु जरत् तृणलवम् (अपि गृह्णन् न लज्जते)।

वदान्यकदर्ययोः स्वरूपनिरूपणंपुरःसरेण सादृश्याभावोपपादनेनैव कदर्यः स्वयमेव जिह्रेष्यतीत्याह—चिन्तामणेरिति। विधात्रा ब्रह्मणा कर्त्रा चिन्तामणेस्तृणमणेश्च। चिन्तामणिर्नाम चिन्तितार्थप्रदायी मणिविशेषः। तृणमणिर्नाम तृणग्राही कश्चित् पाषाणविशेषः। तयोरुभयोरपीदं मणित्वं केन वा हेतुना इदं समानं तुल्यं कृतम् अकारि कारणादर्शनादुभयोः सादृश्याभिधानमनुचितमित्यर्थः। तदेवोपपादयति—तयोरेकश्चिन्तामणिरर्थिने जनाय अर्थितान्यभिलषितानि ददन्नपि प्रतिपादयन्नपि नाभ्यस्ताच्छतुरिति,नुमभावः। न खिन्नः क्लेशितो न भवति। अन्यस्तृणमणिः। जरन्तं जीर्णम्। जीर्यतेःशतृन् प्रत्ययः।

तृणस्य लवमेकदेशं गृह्णन् स्वीकुर्वन्नपि न लज्जते न ह्रीणो भवति। प्रभूत-प्रदानेनापि न वदान्यः क्लेशयति। कदर्यस्तु प्रसह्यास्य हरणेऽपि न लज्जते इत्युभयोर्भेद इति भावः।

किस (मूर्ख) ब्रह्मा ने चिन्तामणि और तृणमणि दोनों को समान रूप से मणि होने का गर्व दे दिया है? एक (चिन्तामणि) तो याचकों को उनके अभीष्ट पदार्थ देते हुए कभी खिन्न नहीं होता और दूसरा ऐसा है कि उसे टूटे तिनके के टुकड़े को लेते हुए भी लज्जा नहीं आती।

यहाँ अप्रस्तुत वाच्य चिन्तामणि और तृणमणि वृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य उदार और कृपण व्यक्ति के वृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है। चिन्तामणि और तृणमणि में विरुद्धधर्मता बताई है। चिन्तामणि तो अपना सब कुछ दे देता है और तृणमणि दूसरों की तिनके जैसी तुच्छ वस्तु को भी ले लेता है। इस कारण यहाँ विषमालङ्कार भी है। चिन्तामणि लोगों के अभिलषित पदार्थों को प्रदान करने वाली मणि मानी जाती है और तृणमणि तिनके को पकड़ लेने वाला विशेष प्रकार का पत्थर होता है।

दूरे कस्यचिदेष कोऽप्यकृतधीर्नैवास्य वेत्त्यन्तरं
मानी कोऽपि न याचते मृगयते कोप्यल्पमल्पाशयः।
इत्थं प्रार्थितदानदुर्व्यसनिनो नौदार्यरेखोज्ज्वला
जातानैपुणदुस्तरेषु निकषस्थानेषु चिन्तामणेः ॥५२॥

एष चिन्तामणिः कस्यचिद् दूरे (विद्यते) कोऽपि अकृतधीः (समीपस्थः सन्) अस्य अन्तरं न वेत्ति। कः अपि मानी न याचते, कः अपि अल्पाशयः अल्पं मृगयते। इत्थं प्रार्थितदानदुर्व्यसनिनः चिन्तामणेः अनैपुणदुस्तरेषु निकषस्थानेषु औदार्यरेखा उज्ज्वला न जाता।

असन्निहितस्याविशेषज्ञस्यायाचकस्याल्पाशयस्य प्रभूतप्रदाय्येव प्रदाता न वितरति इत्याह—दूरे कस्यचिदिति। एष चिन्तामणिः कस्यचिदकृतपुण्यस्य दूरे तिष्ठति। अकृतधीरबुद्धिमान् कश्चित्समीपस्थोऽप्यस्य चिन्तामणेरन्तरं विशेषगुणं न वेत्ति। अयं चिन्तितानि दातु शक्नोतीत्येव न जानाति। मानी अभिमानी कोऽपि पुरुषो न याचते। याच्ञाभङ्गभयेनेति भावः। अल्पाशयो अल्पबुद्धि कोऽपि कश्चिदल्पं तुच्छं मृगयते। वदान्यं विहाय लुब्धं याचितुमन्विष्यत इति भावः। इत्थमुक्तप्रकारेण प्रार्थिते याच्ञायां सत्यामपि यद्दानं वितरणं तदेव दुर्व्यसनमभिनिवेशः। कदर्यस्तु···

सी तथोक्तः। तस्य चिन्तामणेश्चिन्तारत्नस्यास्थानैपुणदुस्तरेषु अनैपुणेना-प्रावीण्येनापि दुस्तरेषु दुर्ज्ञेयेषु निकषस्थानेषु तारतम्यविमर्शस्थलेषु । उज्ज्वला रमणीया औदार्यरेखा दातृत्वचिह्नम्। न जाता नाजायत। दातारोऽपि बहवो दूरस्थादिभ्यो न ददति तद्विपरीतेभ्यस्तु ददत्येवेति भावः।

(सबकी कामनाओं को पूरा करने वाली) यह चिन्तामणि किसी से दूर (होती) है (तो) कोई दूसरा बुद्धिहीन व्यक्ति (समीप रहकर) इसके (दानशील) विशेष गुण को नहीं जानता है। अन्य कोई दुरभिमानी (इससे) याचना नहीं करता है तो दूसरा कोई तुच्छहृदय पुरुष इससे थोड़ा सा माँगता है। इस प्रकार याचना होने पर ही देने के बुरे स्वभाव वाली चिन्तामणि की उदारता की रेखा (लोगों की) मूर्खता (रूपी मलिनता) के कारण दुर्ज्ञेय परीक्षारूपी कसौटी पत्थर पर स्पष्ट नहीं हो पाई है अर्थात् चिन्तामणि का वास्तविक दातृ-स्वरूप विभिन्नमति पुरुषों को अपनी अपनी सीमा के कारण स्पष्टतया समझ में नहीं आता है।

यहाँ प्रस्तुत चिन्तामणिवृत्तान्त से अप्रस्तुत दानी पुरुषवृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है। जैसे चिन्तामणि की उदारता का गुण दूर रहने पर भी ज्ञात नहीं हो पाता और पास रहने पर भी उसकी कीमत नहीं पता चलती वैसे ही दानी राजा दूर रहने वालों को भी दान नहीं दे पाता और पास रहने वालों को उसके दानी रूप का ज्ञान नहीं होता है। यहाँ दूरता और समीपता आदि को चिन्तामणि की उदारता को न जानने का कारण बताया गया है इसलिए यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार भी है।

परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो
यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः।
न सम्प्राप्तो वृद्धिं स यदि भृशम क्षेत्रपतितः
किमिक्षोर्दोषोऽयं न पुनरगुणाया मरुभुवः ॥५३॥

यः (इक्षुः) परार्थे पीडाम् अनुभवति, भङ्गेऽपि मधुरः (भवति) इह यदीयः विकारः खलु सर्वेषाम् अपि अभिमतः (भवति) यदि भृशम् अक्षेत्रपतितः स वृद्धिं न सम्प्राप्तः (तर्हि) किम् अयम् इक्षोः दोषः पुनः अगुणाया मरुभुवः (दोषः) न ?

सुजनः खलमाश्रित्य न प्रवर्धत इत्याह—परार्थं इति। य इक्षुर्जनोऽपि प्रतीयते। परार्थं परप्रयोजनाय पीडां यन्त्रादिकृतं मर्दनम्। अन्यत्र बाधां चानुभवति। छेदे सत्यपि खाद्यमानोऽपीत्यर्थः। मधुरो माधुर्यवान्। अन्यत्र विनयादिगुणवांश्च। इह लोके। यदीय इक्षुसम्बन्धी विकारः गुडशर्कराप्रभृतिः। सर्वेषामभिमतः मिष्टो भवति अन्यत्र विकारो मनोविकृतिः क्रोधादिः। स इक्षुरक्षेत्रपतितः अक्षेत्रपतितमूषरादिस्थानम् पतितः प्राप्तः। निजसदृशां स्वोचितां वृद्धिमौन्नत्यं न सम्प्राप्तो न गत इति यावत्। असाविक्षोर्दोषः किं नेत्यर्थः। पुनः किन्तु स दोषोऽगुणाया मरुभुवः सम्बन्धी भवति। आश्रयदोषा आश्रितेषु प्रसज्जन्तीति भावः।

जो दूसरों के लिए पीड़ा सहन करता है, तोड़े जाने पर भी मीठा रहता है, जिसका गुड़, शक्कर आदि विकार (बनी हुई चीज़ें) भी लोगों को पसन्द आता है वह गन्ना यदि अत्यधिक बुरे खेत में पड़कर बढ़ता नहीं है तो क्या गन्ने का दोष है, और निर्गुण ऊसरभूमि का दोष नहीं है?

यह श्लोक आनन्दवर्धन की प्रसिद्ध रचना ध्वन्यालोक (1,14 वृत्तिभाग) में भी मिलता है। यहाँ इक्षु की जो विशेषतायें बतलाई हैं, वही विशेषतायें श्लेष के द्वारा सज्जन में भी प्रतीत होती हैं। सज्जन भी दूसरों के लिए कष्ट सहता है (पीडामनुभवति) भङ्गेऽपि मधुरः—अपमान होने पर भी मधुरभाषी बना रहता है। उसका क्रोधादि विकार भी सबको अच्छा लगता है। अक्षेत्रपतित—अपने पद के अनुरूप स्थान न मिलने पर उसको पदवृद्धि नहीं होती। अगुणायाः मरुभुवः का अर्थ निर्गुण स्वामी है। इस प्रकार इस श्लोक में इक्षुपरक और सज्जनपरक दो अर्थ होने के कारण श्लेषालङ्कार है। भङ्गेऽपि मधुरः तथा विकारोऽप्यमितः में विरोध की प्रतीति होने से विरोधाभास अलङ्कार है। यहाँ प्रस्तुत इक्षुवृत्तान्त से अप्रस्तुत सज्जनवृत्तान्त की प्रतीति समान गुणों के कारण हो रही है, इस कारण यहाँ समात्समा अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है।

आम्राः किं फलभारनम्रशिरसो रम्या किमूष्मच्छिदः
सच्छायाः कदलीद्रुमाः सुरभयः किं पुष्पिताश्चम्पकाः।
एतास्ता निरवग्रहोग्रकरभोल्लीढार्धरूढाः पुनः
शम्यो भ्राम्यसि मूढ निर्मरुति किं मिथ्यैव मर्तुं मरौ ॥५४॥

इह किं फलभारनम्रशिरसः रम्या आम्राः (सन्ति)? किम्

उष्मच्छिदः सच्छायाः कदलीद्रुमाः (सन्ति) ? किं पुष्पिताः सुरभयः चम्पकाः (सन्ति) पुनः एताः ताः निरवग्रहोग्रकरभोल्लीढार्धरूढाः शम्यः (सन्ति हे) मूढ ! निर्मरुति मरौ मर्तुं मिथ्यैव किं भ्राम्यसि ?

दातारं परित्यज्य लुब्धं यस्सेवते तं प्रत्याह—आम्राः किमिति । हे मूढ इह तरवः फलभारनम्रशिरसः फलानां भारेण गौरवेण नम्रशिरसः अवनताग्राः । अन्तत एव रम्या मनोहरा चूतद्रुमाः किम् नैवेत्यर्थः । सच्छायाः छायायुक्ताः उष्णच्छिदः सन्तापहारिणः । कदलीद्रुमाः किं रम्भातरवः किमित्यर्थः । कदलीवारणबुसा रम्भामोचांशुमत्फला इत्यमरः । अथवा पुष्पिताः सञ्जातपुष्पाः । अतएव सुरभयः सौरभ्यवन्तः । चम्पका हेमपुष्पवृक्षाः । किमित्यत्र काकुः । पुनः किन्तु निरवग्रहोग्रकरभोल्लीढप्ररूढाः । निरवग्रहाः निष्प्रतिबन्धाः अतएव उग्रास्तीक्ष्णवृत्तयः ये करभा उष्ट्राः तैर्लीढा भक्षिताः ततोऽर्धरूढा अङ्कुरिताः । अर्धपल्लवास्ताः एताः परिदृश्यमानाः शम्यः शमीतरवः । तस्मान्निर्मरुति वायुसञ्चाररहिते मरौ निर्जलस्थले मिथ्यैव वृथा मर्तुं देहमोक्षायैव किं किमर्थं भ्राम्यसि सञ्चरसि ? मरुसञ्चारस्य मरणमेव फलं स्यादित्यर्थः । अलाभे देशे वर्तमानः पुरुषो मूढ इति भावः ।

क्या यहाँ फलों के भार से झुके अग्रभाग वाले सुन्दर आम के पेड़ हैं ? क्या यहाँ गरमी को दूर करने वाले घनी छाया वाले केले के पेड़ हैं ? क्या यहाँ सुगन्धित खिले हुए चम्पक हैं ? (इनमें से यहाँ कोई भी चीज़ नहीं है) ये तो वही स्वच्छन्द उद्दण्ड ऊंटों द्वारा चबाए आधे उठे हुए शमी के पेड़ हैं । अरे मूर्ख ! क्यों इस वायुरहित मरुस्थल में मरने को घूम रहे हो ?

यहाँ प्रस्तुत आम्रकदली चम्पक शमी वृक्षवृत्तान्त से अप्रस्तुत दानशील व्यक्ति एवं कृपणवृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है ।

आजन्मनः कुशलमण्वपि रे कुजन्मन्
पांसो त्वया यदि कृतं वद तत् त्वमेव ।
उत्थापितोऽस्यनलसारथिना यदर्थं
दुष्टेन तत्कुरु कलङ्कय विश्वमेतत् ॥५५॥

रे कुजन्मन् पांसो ! आजन्मनः अणु अपि कुशलं यदि त्वया कृतं तत् त्वमेव वद । (त्वम्) दुष्टेन अनलसारथिना यदर्थम् उत्थापितः असि तत् कुरु, एतत् विश्वं कलङ्कय ।

दुर्जनान्तरप्रेरितो दुर्जनः सकलमपि क्लेशयतीत्याह—आजन्मन इति । कोर्भूमेः सकाशात् जन्म यस्य स कुजन्मा । कुः व्यधिकरणे बहुव्रीहिः तस्य सम्बुद्धिः रे कुजन्मन् अन्यत्र भो दुष्कुलीन । रे इति हीनसम्बोधने रे पांसो रजस्त्वया। आजन्मनो जन्मनः प्रभृति । आजन्मन इति भिन्नं पदम् अन्यथा आजन्मेति स्यात् । अणु अल्पमपि । कुशलं क्षेमम् उपकारमिति यावत् । कृतं यदि कृतं चेत् तर्हि तत्त्वं सत्यमेव वद कथय । दुष्टेनानुपकारिणाऽनलसारथिना । यदर्थं-यस्मै प्रयोजनाय । उत्थापितम् ऊर्ध्वं प्रापितम् । अन्यत्र प्रेरितम् । असि तत्कार्यं कुरु । तदेवाह—एतद्विश्वं जगत् । कलङ्कय मलिनीकुरु । कलङ्कशब्दात्तत्करोतीति ण्यन्ताल्लोट् अन्यत्र कलङ्कय दोषमुत्पादय।

अरी कुजन्मा धूल ! जन्म लेकर तूने यदि लेशमात्र भी कोई अच्छा काम किया हो तो बताओ। जिस प्रयोजन से दुष्ट वायु ने तुम्हें उठाया है उसे पूरा करो। इस सारे संसार को मैला कर दो।

यहाँ प्रस्तुत वाच्य पांसुवृत्तान्त से अप्रस्तुत अनुपकारी दुर्जनवृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा है । सारे विश्व को कलङ्कित करने के कार्य का हेतु वायु द्वारा उत्थापन को बताने के कारण यहाँ काव्यलिङ्ग भी है ।

निस्साराः सुतरां लघुप्रकृतयो योग्या न कार्ये क्वचि-
च्छुष्यन्तोऽद्य जरत्तृणाद्यवयवाः प्राप्ताः स्वतन्त्रेण ये।
अन्तःसारपराङ्मुखेन धिगहो ते मारुतेनामुना
पश्यात्यन्तचलेन सद्म महतामाकाशमारोपिता॥५६॥

अहोधिक् पश्य, अथ निस्सारः सुतरां लघु प्रकृतयः क्वचित् कार्ये न योग्याः शुष्यन्तः, जरत्तृणाद्यवयवाः ये (रेणवः) प्राप्ताः, ते स्वतन्त्रेण अत्यन्तचलेन अन्तःसारपराङ्मुखेन अमुना मारुतेन महतां सद्म आकाशम् आरोपिताः ।

निर्गुणानेव निर्विवेकाः समुत्कर्षयन्तीत्याह—निस्सारास्सुतरामिति । ये रेणवो नीचाश्च प्रतीयन्ते। सुतरामत्यर्थं निस्सारा दुर्बलाः । अतएव लघुप्रकृतय. तुच्छस्वभावाः । अतएव क्वचिदपि कार्ये त्रिवर्गसाधनादौ न योग्या अनर्हाः शुष्यन्त अद्रवा विनयादिसाररहिताश्च प्रतीयन्ते । जरत्तृणाद्यवयवाः जीर्णतृणादिसहचरिताः । अन्यत्र तुच्छजनसम्बन्धास्ते रेणवः। अन्तस्सारेषु पर्वतादिषु प्रबलेषु च । पराङ्मुखेन निवृत्तेन स्वतन्त्रेणानन्याधीनेन । अत्यन्तं नितरां चलेन चञ्चलस्वभावेनामुना मारुतेन वायुना । महतां सूर्यादीनां सद्म मार्गमा-

काशमिति यावत्। आरोपिताः प्रापिता इति यत् तत् धिक्। अहो आश्चर्यम्। पश्य अवलोकय। पश्येति लोकः सम्बुध्यते। अतीव निर्गुणप्रकृतिकस्य वादिस्थानं सर्वस्याप्युद्वेगकरं भवतीति भावः।

अहो धिक्कार है देखो, आज सारहीन, अत्यन्त नीच स्वभाव वाले, कहीं भी काम न आने वाले, सूखे, जीर्ण शीर्ण तिनकों आदि से युक्त जो धूलिकण मिले उनको (ही) निरङ्कुश, अत्यन्त चञ्चल और भीतरी गुणों से विमुख रहने वाले (अर्थात् गुणों को न पहचानने वाले) इस वायु ने महान् ज्योतियों के निवासस्थान आकाश तक पहुँचा दिया है।

यहाँ अप्रस्तुत वायुपांसुवृत्तान्त से प्रस्तुत नीचजनसमुत्कर्षकस्वामिवृत्तान्त की प्रतीति होने से समासमा अप्रस्तुतप्रशंसालङ्कार है।

ये जात्या लघवः सदैव गणनां याता न ये कुत्रचित्
पद्भ्यामेव विमर्दिताः प्रतिदिनं भूमौ निलीनाश्चिरम् ।
उत्क्षिप्ताश्चपलाशयेन मरुता पश्यान्तरिक्षेऽधुना
तुङ्गानामुपरिस्थितिं क्षितिभृतां कुर्वन्त्यमी पांसवः ॥५७॥

ये जात्या लघवः, ये सदैव कुत्रचित् अपि गणनां न याता ये पद्भ्यां विमर्दिताः, ये प्रतिदिनं भूमौ चिरं विलीनाः, पश्य, चपलाशयेन मरुता अन्तरिक्षे उत्क्षिप्ताः (ते) अमी पांसवः तुङ्गानां क्षितिभृताम् उपरि स्थितिं कुर्वन्ति।

केनचिन्मन्देनोत्कर्षमापन्ना नीचा महतोऽपि अभिभवन्तीत्याह—ये जात्या लघव इति। ये पांसवो जात्या स्वभावेन जन्मना लघवः परमाणुरूपाः इत्यर्थः। जातिः सामान्यजन्मनोरित्यमरः अन्यत्र जात्या लघवः अकुलीनाः सदैव सर्वदा। क्वचिदपि कार्ये गणनाम्। इदमनेन सेत्स्यति तदनेन भाव्यमिति सङ्ख्याविषयत्वं न याताः न प्राप्ताः। प्रतिदिनं नित्यम्। पद्भ्यां चरणाभ्यां विमर्दिता अधिष्ठिताः। अन्यत्र नीचतया पादेन निरस्ता इत्यर्थः। चिरं भूमौ निलीना अन्यत्र नामावशिष्टाः। ततश्च चपलाशयेन चपलस्वभावेन मरुता वायुना अनेनेदानीमन्तरिक्षे गगनतले। उत्क्षिप्ताः प्रसारिताः सन्तः। अमी पांसवो रेणवः क्षुद्राश्च ध्वन्यन्ते। तुङ्गानामुन्नतानां क्षितिभृतां पर्वतानाम्। राज्ञामुपर्यूर्ध्वं स्थितिमवस्थानं कुर्वन्ति। पश्यावलोकय। पश्येति लोकः सम्बोध्यते। न किमप्यस्ति दुरात्मनामलङ्घ्यमिति भावः।

इस चञ्चलहृदय वायु ने जाति से नीच, कभी किसी गिनती में न आने वाले, पैरों से कुचले गये, प्रतिदिन भूमि में छिपे रहने वाले धूलिकणों को ऊपर फैंक दिया और देखो अब उन्होंने आकाश में ऊँचे पहाड़ों पर अपना स्थान बना लिया है।

यहाँ अप्रस्तुत धूलिपर्वतवृत्तान्त से प्रस्तुत भाग्यवश राजा की कृपा पर आश्रित रहने वाले क्षुद्र व्यक्तियों के वृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है। धूलिकणों में जाति से लघु होना, पैरों से विमर्दित होना तथा वायु से फैंके जाने जैसे साभिप्राय विशेषणों के होने से परिकर अलङ्कार है।

रे दन्दशूक यदयोग्यमपीश्वरस्त्वां
वात्सल्यतो नयति नूपुरधाम सत्यम्।
आवर्जितालिकुलझंकृतिमूर्च्छितानि
किं शिञ्जितानि भवतः क्षममेव कर्तुम् ॥५८॥

रे दन्दशूक ! सत्यम्, यत् ईश्वरः अयोग्यम् अपि त्वाम् वात्सल्यतः नूपुरधाम नयति। (किन्तु) इयता आवर्जितालिकुलझङ्कृतिमूर्च्छितानि शिञ्जितानि कर्तुं किं भवतः क्षममेव ?

महता प्रभुणा विद्वत्समत्वेन सम्मानितोऽप्यज्ञः विद्वानिव वक्तुं न शक्नोतीत्याह—रे दन्दशूक इति। रे दन्दशूक भोः सर्प दुष्टोऽपि ध्वन्यते। ईश्वरस्त्रिलोचनः। यत् यस्मात् कारणात्। आवर्जितं तिरस्कृतम्। अलिकुलस्य भृङ्गसमूहस्य। झङ्कृतिर्मूर्च्छितम् झङ्कारोत्कर्षो यैस्तानि तथोक्तानि शिञ्जितानि भूषणध्वनीन्। भूषणानां तु शिञ्जितमित्यमरः। किन्तु भवतस्तव क्षममेव किं समीचीनमेव किम् ? किंशब्दोऽत्रप्रश्ने। प्रभुपरिग्रहेण समृद्धो भवति न विद्वान् वक्ता वेति भावः।

अरे विषधर साँप ! यह बात तो सच है कि महादेव जी अयोग्य होते हुए भी तुम्हें प्रेम के कारण (ही) नूपुरों के स्थान अर्थात् अपने चरण में पहनते हैं। (परन्तु) इतने से भौंरों के समूहों की सुन्दर झंकारों की तिरस्कारिणी (मधुर) ध्वनियों को उत्पन्न करने की क्षमता क्या आपके भीतर है ?

यहाँ अप्रस्तुत वाच्य सर्पमहादेववृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य राजा द्वारा सम्मानित मूर्ख के वृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है। इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि कभी कभी राजा लोग मूर्ख को भी विद्वानों के

बराबर सम्मान तो दे देते हैं किन्तु अवसर आने पर वह अल्पज्ञ व्यक्ति विद्वानों की भाँति प्रभावशाली भाषण नहीं दे पाता।

मौलौ सन्मणयो गृहं गिरिगुहा त्यागित्वमात्मत्वचो
निर्यत्नोपनतैश्च वृत्तिरनिलैरेकत्र चर्येदृशी।
अन्यत्रानृजु वर्त्म वाग्द्विरसना दृष्टौ विषं दृश्यते
या दिक् तामनु दीपको ज्वलति भो भोगिन् सखे किन्विदम्
॥५६॥

भोः सखे भोगिन्। इदं नु किम्? मौलौ सन्मणयः, गिरिगुहा गृहम्, आत्मत्वचः त्यागित्वम्, निर्यत्नोपनतैः अनिलैः च वृत्तिः—एकत्र ईदृशी चर्या। अन्यत्र अनृजु वर्त्म, द्विरसना वाक्, दृष्टौ च विषम् दृश्यते। या दिक् दृश्यते ताम् अनु दीपकः ज्वलति।

यत्र गुणदोषाश्च यौगपद्येन दृश्यन्ते तं प्रत्याह—मौलौ सन्मणय इति। सखे प्राणसम भो भोगिन् हे सर्प! विषयी च प्रतीयते। मौलौ शिरसि सन्मणयः प्रशस्तरत्नानि दृश्यन्त इति शेषः। अनेनान्यत्र विवेकित्वं ध्वन्यते। गिरिगुहा पर्वतगह्वरमेव गृहं मन्दिरम्। अनेन रागित्वमुच्यते। त्यागित्वमौदार्यं च। आत्मत्वचा स्वनिर्मोकेन शरीरचर्मणा। अन्यत्र अनेनौदार्यप्रकर्ष उक्तः। निर्यत्नेनानायासेन। उपनतैरागतैरनिलैर्वायुभिः। वृत्तिर्जीवनम् वृत्तिर्वर्तन-जीवने इत्यमरः क्रियते। अन्यत्र न तपोनिष्ठत्वमुच्यते। एकत्र एकस्मिन् पक्षे। ईदृशी एवंविधा चर्या आचरणं दृश्यते इति वाक्यशेषः। अन्यत्रान्यस्मिन् पक्षे। अनृजु कुटिलं वर्त्म मार्गः गतिरिति यावत्। अनेन वक्रशीलतोक्ता। वाग्वाण्यपि द्विरसनाद् द्विजिह्वा भवति अनेनासत्यवादित्वमुच्यते। किञ्च दृष्टौ चक्षुषि विषं गरलं दृश्यते। अनेनाऽसूयाविष्कृतोच्यते तदेवोपपादयति—या दिक् भवता दृश्यते तां दिशमनुलक्षीकृत्य दीपको अग्निर्ज्वलति प्रकाशते। अनेन हिंस्रत्व-मुच्यते। इदं परस्परविरुद्धं चेष्टितम्। किन्तु कीदृशमनुचितमित्यर्थः। दुष्ट-चेष्टितं केनापीदम्। यो न ज्ञातुं शक्यत इति भावः।

अरे मित्र साँप! निश्चय ही यह क्या बात है? (तुम्हारे) मस्तक पर श्रेष्ठ मणियाँ हैं, पर्वत की गुफा तुम्हारा घर है, अपनी त्वचा (केंचुली) का (तुम) परित्याग करते हो और बिना किसी प्रयत्न से प्राप्त हवाओं से तुम अपना जीवन चलाते हो—एक ओर तो तुम्हारा ऐसा (प्रशंसनीय) आचरण है परन्तु दूसरी ओर तुम्हारी कुटिल चाल है, दो जीभें हैं और तुम्हारी आँख में

ज़हर है। जिस दिशा की ओर तुम देखते हो उसी में दीया जल जाता है अर्थात् आग लग जाती है।

यहाँ अप्रस्तुत वाच्य सर्पवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य गुण और दोष दोनों से ही समान रूप में समन्वित, किसी विषयासक्त उच्च व्यक्ति की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है। भोगी, द्विरसना और आत्मत्वचः में शब्दशक्तिमूलक ध्वनि हैं। परस्पर विरोधी गुणों का एक ही स्थान में सन्निवेश होने के कारण विषमालङ्कार भी है।

कल्लोलवेल्लितदृषत्परुषप्रहारै-
रत्नान्यमूनि मकरालय मावमंस्थाः।
किं कौस्तुभेन विहितो भवतो न नाम
याच्ञाप्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि ॥६०॥

हे मकरालय ! कल्लोलवेल्लितदृषत्परुषप्रहारैः अमूनि रत्नानि मा अवमंस्थाः। किं नाम कौस्तुभेन पुरुषोत्तमः अपि भवतः याच्ञाप्रसारितकरः न विहितः।

यत् प्रभुर्दुष्प्रसङ्गवशेन दुर्भृत्यानिव मान्यानप्यवमानयति तद्विडम्बनायाह—कल्लोलेति। हे मकरालय समुद्र ! अनेन दुष्टपरिवेष्टितो दुष्प्रभुरपि प्रतीयते। कल्लोलैरूर्मिभिस्तरङ्गैः वेल्लिताश्चलिता दृषदः पाषाणाः ताभिर्ये परुषा निष्ठुराः प्रहाराः अभिघातानि तैः करणैः। अमूनि रत्नानि मरकतादीनि मावमंस्थाः मा तिरस्कुरु मन्यते कर्तरि लुङ्। तद्धेतुमाह—पुरुषोत्तमोऽपि विष्णुरपि सुजनोऽपि प्रतीयते। पुरुषेषूत्तमः पुरुषोत्तमः। सप्तमीसमासः। अन्यथा सन्महदित्यादिना समासेऽपि उत्तमपुरुष इति स्यात्। कौस्तुभेन मणिविशेषेण हेतुना भवतः तव। याच्ञाप्रसारितकरः याच्ञया प्रसारितः प्रसृतः करो हस्तो येन स तथोक्तः। न विहितो नाम किम् ? किमिति काकुः नामेति प्रसिद्धौ। विहितः कृत एवेत्यर्थः। महद्भिरपि माननीयान् योऽवमन्यते तत् धिगिति भावः।

अरे समुद्र ! इन रत्नों को लहरों से पटके गये पत्थरों के कठोर प्रहारों से अपमानित मत करो। निश्चय ही क्या कौस्तुभ मणि ने पुरुषोत्तम विष्णु भगवान् को आपके आगे मांगने के लिए हाथ पसारे खड़ा नहीं कर दिया है ?

यहाँ अप्रस्तुत वाच्य पत्थरों के प्रहार से पीड़ित रत्नवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य दुष्टों से प्रपीडित मान्य व्यक्तियों के वृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुत-

प्रशंसा अलङ्कार है। तिरस्कारनिषेध रूप कार्य के लिए पुरुषोत्तम द्वारा की गई याचना को हेतु बताने से काव्यलिङ्ग अलङ्कार भी है।

भूयांस्यस्य मुखानि नाम विदितैवास्ते महाप्राणता
कद्र्वाः सत्प्रसवोऽयमत्र कुपिते चिन्त्यं यथेदं जगत्।
त्रैलोक्याद्भुतमीदृशं तु चरितं शेषस्य येनापि सा
प्रोन्मृज्येव निर्वर्तिता विषधरज्ञातेयदुर्वृत्तिता ॥६१॥

अस्य मुखानि भूयांसि नाम, महाप्राणता विदिता एव आस्ते। कद्र्वाः अयं सत्प्रसवः, अत्र कुपिते इदं जगत् चिन्त्यं यथा (स्यात्)। (इत्थम्) शेषस्य ईदृशं चरितं तु त्रैलोक्याद्भुतं (जातम्)। येन सा विषधरज्ञातेया दुर्वृत्तिता अपि प्रोन्मृज्य इव निर्वर्तिता।

कस्यचिद् गुणाढ्यस्य सुजनस्य खलमध्योत्पत्तिर्न दोषायेत्याह—भूयांस्यस्येति। अस्य शेषस्य नागराजस्य मुखानि वक्त्राणि भूयांसि नाम बहूनि खलु। खलु शब्दः प्रसिद्धौ। महाप्राणता महाबलता विदितैव। प्रख्यातैवास्ते तिष्ठति सकलमहीमहीधरादिधारणादिति भावः। कद्र्वाः काश्यपमुनिपत्न्याः सकाशादयं भूधरणे शिथिलयत्नः स्यात्। सत्प्रसवः सदुत्पत्तिः। अत्र शेषे कुपिते रोषाविष्टे सति। इदं जगत् यथा येनापि प्रकारेण चिन्त्यं विमृश्यं भवति। यदाऽथ भूधारणे शिथिलयत्नः स्यात्तदावष्टम्भान्तराभावाल्लोकोऽयं विनश्येदिति विचारणीयम् स्यादित्यर्थः। येन कारणेनास्य शेषस्य। त्रैलोक्याद्भुतं त्रयो लोकास्त्रैलोक्यम्। चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थे ष्यञ्। तस्य त्रैलोक्यस्याद्भुतमाश्चर्यम्। ईदृशमेवंविधं चरितमाचरणं दृश्यत इति शेषः। तत् तस्मात् कारणात्। विषधरज्ञातेयदुर्वर्णिका विषधराणां सर्पाणां ज्ञातेया ज्ञातिगता। कपिज्ञात्योर्ढगिति ढक् प्रत्ययः। सैव दुर्वर्णिका दुष्कीर्त्तिः। प्रोन्मृज्य संशोध्य निपातिता निःशेषेण अपसारितेत्यर्थः। सर्वज्ञत्वबलवत्त्वकुलीनत्वपरोपकारत्वादिबहुगुणार्थत्वाच्छेषस्य सर्पकुलोद्भूतत्वं न दोषायेति भावः।

निश्चय ही इस शेष नाग के बहुत सारे मुख हैं, इसकी महाबलशालिता विख्यात होकर प्रतिष्ठित ही है। यह (सर्पों की माता) कद्रू की श्रेष्ठ सन्तान है। इसके क्रुद्ध होने पर (अपनी आधारभूता पृथिवी के डांवाडोल होने से) यह संसार शोचनीय सा हो जाता है। (इस प्रकार) शेष नाग का ऐसा जीवन तीनों लोकों में विलक्षण है। जिस (सर्वज्ञताबलवत्तादि) के कारण सर्पजातिगत दुष्ट स्वभाव मानों पोंछकर (धोकर शेष नाग से) बाहर निकल गया है।

यहाँ नीच सर्पजाति में उत्पन्न किन्तु सर्वज्ञता, महासत्त्वतादि गुणों से युक्त अप्रस्तुत वाच्य शेषनागवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य अकुलीन किन्तु बड़े बड़े गुणों से समलंकृत महापुरुष के वृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है। यहाँ अन्तिम पाद में विद्यमान दुर्वृत्तितानिवर्तन रूप कार्य के लिए प्रथम तीन पादों में भूयांसि मुखानि आदि वाक्यार्थहेतु प्रयुक्त हुए हैं, अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार भी है।

वर्षे समस्त एवैकः श्लाघ्यः कोऽप्येष वासरः।
जनै र्महत्तया नीतो यो न पूर्वै र्न चापरैः ॥६२॥

समस्ते एव वर्षे कः अपि एषः वासरः श्लाघ्यः यः न पूर्वैः न च अपरैः जनैः महत्तया नीतः।

दुःखसहचरिताच्चिरकालजीवनादप्यनवद्यसुखसहचरितमल्पकालजीवितमेव श्रेय इत्याह—वर्षे इति। समस्ते निखिले वर्षे संवत्सरप्रभवादिषष्टिसंवत्सर इत्यर्थः। स्याद् वृष्टौ लोकधात्र्यंशे वत्सरे वर्षमस्त्रियाम् इत्यमरः। एवं कोऽप्यन्यो वासरो दिवसः श्लाघ्यः स्तुत्यः। समौ दिवसवासरावित्यमरः। यो वासरः पूर्वैः प्राचीनैः जनैः कपिलादियोगिवृन्दैरित्यर्थः। महत्तया दीर्घतरेण न नीतः। अपरै-र्भाविभिरन्यैर्महात्मभिश्च महत्तया न नयिष्यते। अल्पत्वेन न नीतः नयिष्यत इत्यर्थः। स्वस्य रूपानुसन्धानजनितनिरतिशयसुखानुषङ्गान्महानपि कालोऽल्पः प्रतीयत इत्यर्थः।

सारे ही साल में अनिवर्चनीय आनन्द से परिपूर्ण यह एक ही ऐसा दिन प्रशंसनीय है जिसे न तो प्राचीन पूर्वजों ने और न ही अर्वाचीन पुरुषों ने गौरव (तथा) स्वाभिमान के साथ बिताया है।

किसी अत्याचारी शासक के शासन के अन्त होने की शुभ वेला के समय का यह वचन है। दासता की समाप्ति के अनन्तर पन्द्रह अगस्त जैसे स्वाधीनता दिवस पर ऐसी ही आनन्दानुभूति होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसे दिवस पर जो आनन्द हमें प्राप्त हुआ है वह हमारे पूर्वजों को भी नहीं मिला होगा। अथवा प्रसन्नता भरा थोड़ा सा जीवन दुःख भरे लम्बे जीवन से अच्छा है।

निरतिशय आनन्दोत्सव का वर्णन होने से यहाँ उदात्तालङ्कार है। उदात्तं वस्तुनः सम्पत्—लोकोत्तर प्रभाव या समृद्धि का जहाँ वर्णन होता है वहाँ उदात्तालङ्कार होता है।

आबद्धकृत्रिमसटाजटिलांसभित्ति -
रारोपितो मृगपतेः पदवीं यदि श्वा ।
मत्तेभकुम्भतटपाटनलम्पटस्य
नादं करिष्यति कथं हरिणाधिपस्य ॥६३॥

आबद्धकृत्रिमसटाजटिलांसभित्तिः श्वा यदि मृगपतेः पदवीम् आरोपितः (स्यात् तर्हि सः) मत्तेभकुम्भतटपाटनलम्पटस्य हरिणाधिपस्य नादं कथं करिष्यति ?

उत्कृष्टपदारूढोऽपि नीचः स्वभावं न परित्यजतीत्याह—आबद्धेति । आबद्धकृत्रिमसटाजटिलांस भित्तिः । आबद्धाभिः समन्ताद् ग्रथिताभिः कृत्रिमाभिर्मायारूपाभिः सटाभिः स्कन्धरोमभिः वलिता नम्रा अथवा जटिला सञ्जातजटा अंसभित्तिः स्कन्धस्थली यस्य स तथोक्तः । श्वा भषकः शुनको भषकश्च श्वा स्यादित्यमरः । मृगपतेः सिंहस्य पदवीं स्थानमारोपितोऽपि तत्र स्थापितोऽपि मत्तेभकुम्भतटपाटनलम्पटस्य आसक्तस्य मृगेन्द्रस्य नादं गर्जनं कथं करिष्यति न कथञ्चिदित्यर्थः । विद्वद्वेषधारी विद्वत्स्थानं प्रापितोऽपि मूढो विद्वानिव न वक्तुं शक्नोतीति भावः ।

यदि कंधों पर नकली सटा (बड़े बाल) लगा कर कोई कुत्ता शेर के पद पर बिठा भी दिया जाये तो वह मत्त हाथी के कुम्भस्थल को फाड़ने में निपुण शेर का नाद कैसे कर पाएगा ?

यहाँ अप्रस्तुत वाच्य श्वमृगपतिवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य मूर्ख तथा बुद्धिमान् के वृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है ।

किमिदमुचितं शुद्धेः श्लिष्टं स्वपक्षसमुन्नतेः
फलपरिणतेर्युक्तं प्राप्तं गुणप्रणयस्य वा ।
क्षणमुपगतः कर्णोपान्तं परस्य पुरः स्थितान्
विशिख निपतन्क्रूरं दूरान्नृशंस निहंसि यत् ॥६४॥

(भोः) नृशंस विशिख । यत् त्वं परस्य कर्णोपान्तं क्षणमुपगतः दूरात् निपतन् पुरः स्थितान् क्रूरं निहंसि, किम् इदं शुद्धेः उचितम् ? किं स्वपक्षसमुन्नतेः श्लिष्टम् ? किं फलपरिणतेः युक्तम् ? (किम्) वा गुणप्रणयस्य प्राप्तम् ?

यः कश्चिद् राजवल्लभः स्वस्य धनाद्यप्रदानेन गुणिनं दोषिणमेवाभिधाय तत्कार्यं विनाशयति तद्विडम्बयन्नाह—किमिदमुचितमिति । नृशंसः क्रूरतरः । नृशंसो घातुकः क्रूर इत्यमरः । भो विशिख बाण उभयवेतनोऽपि प्रतीयते । परस्य अत्यन्तमुख्यस्य च । परं दूरात्यन्तमुख्येष्विति यादवः । कर्णोपान्तं श्रवण-समीपं क्षणं मुहूर्तमुपगतः प्राप्तः । दूरात् क्रूरः तीक्ष्णो निष्ठुरश्च यथा तथा निपतन्नागच्छन् पुरोऽग्रे स्थितान् निहंसि बाधस इति यत् इदं शुद्धेः लोहशुद्धेः उचितं किं नेत्यर्थः । स्वपक्षसमुन्नतेः स्वपक्षस्य पक्षाणां समुन्नतिर्गुरुता । अन्यत्र सहायानां च समुन्नतेराधिक्यस्य स्पष्टं व्यक्तं किं नेत्यर्थः फलपरिणतेश्शल्यस्य निशितताया कथनाभिवृद्धेश्च युक्तमुचितं किं नेत्यर्थः । गुणेन मौर्व्या प्रणयः सम्बन्धस्तस्य । अन्यत्र गुणेषु विनयादिषु प्रणयस्य स्नेहस्य प्राप्तं योग्यं किमित्यत्रापि काकुः । सद्गुणवता स्वगुणानुगुण्येनाचरितव्यमित्यर्थः । क्वचिद् दूष्यदूरदेशादागताद् याचकात् धनादि स्वीकृत्य तस्मै धनादिकं दापयति न तु समीपस्थेभ्यः पात्रेभ्योऽपीति भावः ।

अरे क्रूर बाण ! जो तुम अत्यन्त प्रमुख पुरुष के कान के पास क्षण भर में पहुँच कर दूर से गिरते हुए सामने ठहरे हुए लोगों को निर्दयता के साथ मारते हो क्या यह तुम्हारी पवित्रता के अनुरूप है ? क्या यह अपने पक्ष की उन्नति से सम्बद्ध है ? क्या यह फलपाक के उपयुक्त है (अर्थात् क्या इसी रूप में लोगों का अन्त होना चाहिए) ? और क्या यह (उनके) गुणों में (और अपनी डोरी में) प्रेम रखने के योग्य है ?

यहाँ प्राणहरणरूप कार्य के लिए शुद्धि, स्वपक्षसमुन्नति आदि अनेक कारण खलेकपोतन्याय से उपस्थित हो गये हैं, अतः समुच्चय अलङ्कार है । अप्रस्तुत वाच्य विशिखवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य दान देने में अनिपुण दानी के वृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार भी है ।

अमी ये दृश्यन्ते ननु सुभगरूपाः सफलता
भवत्येषां यस्य क्षणमुपगतानां विषयताम् ।
निरालोके लोके कथमिदमहो चक्षुरधुना
समं जातं सर्वैर्न सममथवान्यैरवयवैः ॥६५॥

अमी ये सुभगरूपाः (मुखाद्यवयवाः) ननु दृश्यन्ते, यस्य क्षणं विषयताम् उपगतानाम् एषां सफलता (भवति) । अहो ! अधुना (तद्) इदं चक्षुः कथं निरालोके लोके सर्वैः अन्यैः अवयवैः समं जातम् ? अथवा (कथं) समम् न (सन्ति) ?

सकलजनपरीक्षकोऽपि विद्वान् अज्ञसमाक्रान्तकुग्रामादिनिवासेनादावज्ञसमो भवेत् । ततस्तेभ्योऽपि निकृष्टो भवतीत्याह—अमी य इति । सुभगरूपा मनोहराकाराः दर्शनीया इति यावत् । अमी परिदृश्यमाना ये घटाद्यर्थाः दृश्यन्ते ननु परीक्ष्यन्ते हि । ननु शब्दः प्रसिद्धौ । यस्य चक्षुषः । क्षणं क्षणमात्रम् । विषयतां गोचरतां पुरोवर्तितत्वमिति यावत् । उपगतानां प्राप्तानाम् । सफलता भवति । यः पदार्थः समीचीनोऽपि यदा चक्षुषा समीक्ष्यते स तदानीमेव समीचीन इत्युच्यते । इदं चक्षुः । अधुना इदानीम् । लोके जगति । निरालोके निष्प्रकाशे तमोव्याप्ते सति अन्यत्र विचाराक्षमे सति । सर्वैरवयवैः करचरणादिभिः । कथं केन प्रकारेण समं जातं तुल्यमभूत् । यथा करचरणादिभिः (निविडा) न्धकारके प्रदेशे चक्षुषापि न दृश्यत इति समभावो द्रष्टव्यः अथवेति पक्षान्तरे । अन्यैरपि करचरणादिभिः समं तुल्यमपि न जातम् । इतरावयवानां स्वस्वविषयेषु वृत्तिरन्धकारेऽपि नान्येभ्योऽवयवेभ्योऽपि चक्षुषोऽपकृष्टत्वं वक्तव्यमित्यर्थः । अहो आश्चर्यम् । येन यत्र कार्यं स तत्रैव पूज्यते नान्यत्रेति भावः ।

ये जो सुन्दर आकृति वाले घटादि पदार्थ (अथवा मनुष्यों के हाथ, पैर, मुख आदि अवयव) दिखलाई देते हैं इन (अङ्गों) की सफलता जिस (चक्षु) के क्षणमात्र को विषय होने पर (अर्थात् दिखलाई देने के कारण) होती है, आश्चर्य है कि वह नेत्र इस समय इस प्रकाशहीन संसार में दूसरे सारे अङ्गों के समान कैसे हो गया है ? अथवा (बाकी अङ्गों के) समान (भी क्यों) नहीं है ?

अभिप्राय यह है कि अन्धकार होने पर हाथ, पैर आदि अवयवों से तो काम लिया जा सकता है परन्तु आँख ज़रा भी अपना काम नहीं कर पाती है । यहाँ अप्रस्तुत वाच्य चक्षुर्वृत्तान्त से किसी अत्यन्त कुशल महापुरुष निरालोक लोक अर्थात् अन्धकार भरे जगत् से विवेकहीन स्वामी तथा हस्तादि अवयवों से अक्षम पुरुष रूप अप्रस्तुत व्यङ्ग्य की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है ।

आहूतेषु विहङ्गमेषु मशको नायान् पुरो वार्यते
मध्येवारिधि वा वसंस्तृणमणिर्धत्ते मणीनां रुचम् ।
खद्योतोऽपि न कम्पते प्रचलितुं मध्येऽपि तेजस्विनां
धिक्सामान्यमचेतनं प्रभुमिवानामृष्टतत्त्वान्तरम् ॥६६॥

विहङ्गमेषु आहूतेषु (सत्सु) पुरः आयान् मशकः न वार्यते । मध्येवारिधि वा वसन् तृणमणिः मणीनां रुचं धत्ते । तेजस्विनाम् अपि

मध्ये खद्योतः अपि प्रचलितुं न कम्पते । अनामृष्टतत्त्वान्तरम् अचेतनं प्रभुम् इव अचेतनं सामान्यम् धिक् ।

यः कश्चिन्निर्गुणप्रकृतिर्गुणिष्वनुप्रवेशादेव स्वस्य गुणित्वं सेत्स्यति इति मत्वा सजातीयत्वमात्रबलेनैव तन्मध्यपातं करोतीत्याह—आहूतेष्विति । विहङ्गमेषु हंसादिपक्षिषु आहूतेषु आकारितेषु सत्सु मशकोऽप्यायान् आयातेः शतृप्रत्ययः। पुरोऽग्रे न वार्यते न निषिध्यते । मशकस्यापि पक्षित्वादिति भावः । तृणमणिस्तृणग्राही कश्चिदुपलविशेषः । मध्ये वारिधि समुद्रमध्ये पारे मध्ये षष्ठ्या वेति समासः। वसन् सन्तिष्ठमानः । मणीनां मरकतादीनां रुचिं शोभां धत्ते बिभर्ति । मणित्वसामान्यस्य सम्भवादिति भावः । खद्योतः कीटविशेषः । तेजस्विनां सूर्यादीनां मध्ये प्रचरितुं न कम्पते न बिभेति । तस्मादचेतनं निर्विवेकम् । अतएवानामृष्टतत्त्वान्तरम् अनामृष्टमविचारितं तत्त्वस्य वस्तुनः स्वरूपस्य अन्तरं भेदो यस्य स तथोक्तः । तं प्रभुं राजादिभिः (सामा)न्यं समानभावं धिक् । मतिविभ्रमेणायमनेन सदृश इति ।

पक्षियों के बुलाने पर आगे बढ़कर आने वाला मच्छर (पक्षधारी होने के कारण) नहीं रोका जाता है। अथवा समुद्र के बीच में रहने वाला (तुच्छ) तृणमणि (बहुमूल्य पद्मरागादि) मणियों की कान्ति को धारण करता है और देदीप्यमान (सूर्य, चन्द्रादि) ग्रहों के भी मध्य में जुगनू भी चलते चलते नहीं काँपता है। (किसी की भीतरी) विशेषताओं के मर्म को न समझने वाले जड़ (मूर्ख) राजा के समान इस जड़ सामान्यधर्म (जातिमात्र) को धिक्कार है।

यहाँ अप्रस्तुत वाच्य मशकादि तथा अचेतन सामान्यवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य गुण और विशेषताओं को पहचानने में असमर्थ मूर्ख राजा के वृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा है। अनामृष्टतत्त्वान्तरं प्रभुमिव० में उपमान, उपमेय, वाचक शब्द तथा सामान्यधर्म होने से पूर्णोपमा है।

हेमकार सुधिये नमोऽस्तु ते
दुस्तरेषु बहुशः परीक्षितुम् ।
काञ्चनाभरणमश्मना समं
यत्त्वयैवमधिरोप्यते तुलाम् ॥६७॥

(हे) हेमकार ! सुधिये ते नमः अस्तु यत् एवं दुस्तरेषु बहुशः परीक्षितुं त्वया काञ्चनाभरणम् अश्मना समं तुलाम् अधिरोप्यते ।

यो विद्वन्मूर्खौ समौ पश्यति तं प्रत्याह—स्वर्णकारेति। हे स्वर्णकार नाडिन्धम ! नाडिन्धमः स्वर्णकार इत्यमरः। सुधिये बुद्धिमते तुभ्यं नमोऽस्तु। नमः स्वस्तीत्यादिना चतुर्थी। सुधिये नमोऽस्त्विवति सोल्लुण्ठनम्। यस्मात्कारणात् दुस्तरेषु विवेक्तुमशक्येषु विषयेषु बहुशो बहुवारं परीक्षितुं विमर्शितुम् बहुशः परीक्षितुं काञ्चनस्याभरणमश्मना तद्गुणहीनेन पाषाणेन समम्। त्वया कर्त्रा। तुलां यन्त्रं समत्वञ्चाधिरोप्यते। रुहेर्ण्यन्तात् कर्मणि लट्। गुरुत्वलघुत्वपरीक्षाप्रसङ्गे तेन सहाश्मानमपि तुलामारोपयसि तस्मादविशेषज्ञाय तुभ्यं नमोऽस्त्विवति कश्चिन्मूढ उपलभ्यते।

हे सुनार ! बुद्धिमान् तुम्हें (हमारा) नमस्कार (स्वीकार) हो। क्योंकि कठिन (परीक्षा के) अवसरों पर बहुत बार परीक्षा लेने के लिए तुम्हारे द्वारा सोने का आभूषण पत्थर के साथ तराज़ू पर चढ़ाया जाता है।

यहाँ नमस्कार रूप कार्य का स्वर्णभूषण और पत्थर की परीक्षा लेना रूप दुस्तर कारण बताया गया है, अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। सुनार की यह स्तुति निन्दा रूप में परिणत होने से व्याजस्तुति है। हेमकार, काञ्चनाभरण तथा अश्मा के अप्रस्तुत वाच्यवृत्तान्त से विद्वान् और मूर्ख को एक जैसा समझने वाले प्रस्तुत राजा के वृत्तान्त की प्रतीति व्यञ्जना से होने के कारण यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार भी है।

वृत्त एव स घटोऽन्धकूप यस्त्वत्प्रसादमपि नेतुमक्षमः।
मुद्रितं त्वधमचेष्टितं त्वया तन्मुखाम्बुकणिकाः प्रतीच्छता ॥६८॥

हे अन्धकूप ! यः त्वत्प्रसादमपि नेतुम् अक्षमः स घटः (रिक्तः) वृत्तः एव। (अथ च) तन्मुखाम्बुकणिकाः प्रतीच्छता त्वया तु अधमचेष्टितं मुद्रितम्।

यः स्वयमसेवाज्ञोऽपि पुनर्लुब्धादर्थमादित्सति स निकृष्टतम इत्याह—वृत्त एवेति। हे घट हे कलश अज्ञोऽपि प्रतीयते। स्वार्थे कप्रत्ययः। शून्यकूपक एव वृत्त; सञ्जातः। किञ्च तन्मुखस्य कूपस्य मुखात् सकाशात्। अम्बुकणिकां प्रतीच्छता प्रतिजिघृक्षता त्वया। अधमस्य निकृष्टस्य चेष्टितं पारमुद्रितं चिह्नितम्। ममैवैतदसाधारणं भवत्विति तत्त्वयाकारीत्यर्थः। अधमः स्वल्पलाभेन परितुष्यति।

अरे (जलरहित) अन्धे कुएँ ! जो तुम्हारी (थोड़ी सी जलप्राप्ति रूप) कृपा को भी लेने में असमर्थ रहा वह घड़ा (तुम्हारे पास से) खाली ही लौट आया है। उसके मुख पर लगे जलबिन्दुओं को भी छीनने की इच्छा करते हुए तुमने अपनी कुचेष्टा पर मोहर लगा दी है अर्थात् तुमने ऐसा करके अपनी नीचता सिद्ध एवं प्रमाणित कर दी है।

यहाँ घड़ा पानी प्राप्त करने रूप इष्टप्राप्ति के लिए अन्धकूप में गया है। किन्तु वहाँ उसे अपनी जलकणिका के छिन जाने रूप अनिष्ट की प्राप्ति हुई है। अतः यहाँ इष्टार्थ के समुद्यम के बाद अनिष्ट की प्राप्ति होने से विषमालङ्कार है। यहाँ अप्रस्तुत वाच्य घटकूपवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य मूर्ख याचक तथा कृपण राजा के वृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा है।

तृणमणेर्मनुजस्य च तत्त्वतः किमुभयोर्विपुलाशयतोच्यते।
तनुतृणाग्रलवावयवैर्ययोरवसिते ग्रहणप्रतिपादने ॥६९॥

तृणमणेः मनुजस्य च उभयोः विपुलाशयता तत्त्वतः किम् उच्यते, ययोः ग्रहणप्रतिपादने तनुतृणाग्रलवावयवैः अवसिते।

यो वाल्पमेव दत्त्वात्मानं श्लाघते तावुभौ न प्रशंसनीयावित्याह—तृणमणेर्मनुजस्य चेति। तृणमणेः प्रागुक्तलक्षणस्य मनुजस्याल्पप्रदातुश्चेत्युभयोस्तत्त्वतो याथार्थ्येन। विपुलाशयता महामनस्विता। किं किमर्थमुच्यते। नेत्यर्थः। तदेवोपपादयति। ययोस्तृणमणिस्वल्पाशययोस्तनुतृणाग्रलवावयवैः तनुतृणानां सूक्ष्मतृणानां यान्यग्राणि तेषां ये लवाः शकलास्तेषामेवैकदेशैः करणैः ग्रहणे प्रतिपादने अवसिते समर्पिते भवतः। षो अन्तकर्मणीत्यस्माद् द्यतिस्यतिमास्थामिति किति इतीत्वम्। तृणमणिरपि तृणलेशमपि गृह्णाति। नीचस्तु मानं वदान्यं मन्यते। तस्मात्तयोर्विपुलाशयता अनुचितेत्यर्थः।

तृणमणि और उसके समान मनुष्य—इन दोनों की उदारता को यथार्थ रूप में क्या कहा जाए जिन दोनों के लेन देन छोटे से तिनके के खण्डों के हिस्सों के समान सीमित होते हैं?

यहाँ तृणमणि और मनुष्य के पृथक् पृथक् धर्म में प्रणिधानगम्य साम्य (बिम्बप्रतिबिम्बभाव) से निदर्शना अलङ्कार है।

शतपदी सति पादशते क्षमा यदि न गोष्पदमप्यतिवर्तितुम्।
किमियता द्विपदस्य हनूमतो जलनिधिक्रमणे विवदामहे ॥७०॥

यदि शतपदी पादशते सति गोष्पदम् अपि अतिवर्तितुं न क्षमा (तर्हि) किम् इयता द्विपदस्य हनूमतः जलनिधिक्रमणे विवदामहे।

महतां कार्यं स्वसत्त्वेनैव सम्पद्यते न साधनान्तरैरित्याह—शतपदीति। शतपदी नाम पादशतेनोपेतः कश्चित् कीटविशेषः। पादानां चरणानाम् शते सति विद्यमानेऽपि। गोष्पदमपि अत्यल्पदेशमप्यतिवर्तितुं लङ्घितुं न क्षमा न समर्था खलु। खलु शब्दः प्रसिद्धौ। इयता एतन्मात्रेण द्विपदस्य पदद्वययुक्तस्य हनूमतो मरुत्सुतस्य जलनिधिक्रमणे समुद्रलङ्घने विवदामहे विवादं कुर्महे नेत्यर्थः। अत्रायं भावः—हनूमता द्विपदेनापि निरतिशयसत्त्वसंवलितत्वात् समुद्रोऽपि लङ्घितः। शतपदी पादशशतेऽपि सत्त्वहीनत्वेनाल्पगोष्पदमपि न लङ्घितुं शक्नोति इति न विवादास्पदमस्तीति। विवदामह इत्यत्र भासनोपसम्भाषेत्यादिना तङ्।

यदि कानखजूरा सौ पैरों के होने पर गौ के पैर जितने पानी को भी पार नहीं कर सकता तो क्या इतने से ही हम दो पैरों वाले हनुमान् के समुद्र पार करने के सम्बन्ध में झगड़ा करें?

यहाँ 'किमियता विवदामहे' इस काकु से 'न विवदामहे' इस अर्थ की प्राप्ति होने से काकुवक्रोक्ति अलङ्कार है।

न गुरुवंशपरिग्रहशौण्डता न च महागुणसङ्ग्रहणादरः।
फलविधानकथापि न मार्गणे किमिह लुब्धकबालगृहेऽधुना॥७१॥

गुरुवंशपरिग्रहशौण्डता न, महागुणसङ्ग्रहणादरः च न। मार्गणे फलविधानकथापि न (अतः) अधुना इह लुब्धकबालगृहे किम्?

लोभ (युक्तो विगत) विवेकश्च न कदाचिदपि सेव्य इत्याह—न गुरुवंशेति। लुब्धकबालगृहे लुब्धकस्य लोभिनो बालस्याज्ञस्य च गृहे गुरुवंशपरिग्रहशौण्डता गुरुवंशानां महाकुलप्रसूतानां गुणाढ्यानां संग्रहणे सम्पादने आदरोऽपि च नास्ति। मार्गणे अर्थि (जनानां कृते) फलस्याभिलषितार्थस्य विधाने सम्पादने कथा वार्तापि नास्ति। तस्मादधुनेदानीमिह लुब्धकसन्निधाने किमपि लब्धुं न शक्यते। अतोऽपसृत्यातो गन्तव्यमित्यर्थः। अन्योऽर्थोपि निरूप्यते—लुब्धकबालस्य व्याधबालस्य गृहे मन्दिरे। गुरूणां महतां वंशानां परिग्रहे शौण्डता समर्थता न, दीर्घाणां गुणानां धनुर्मौर्वीणां संग्रहणे चादरो नास्ति। मार्गणे शरे फलविधानस्य शल्यकरणस्य कथापि नास्ति। बालत्वेनासमर्थत्वादिति भावः। तस्मादधुनेह व्याधबालगृहे न किमपि प्रयोजनमस्तीति कश्चिच्चापार्थी विषीदति।

व्याधबालकपक्ष—

न तो बड़े बड़े बाँसों का संग्रह करने की चतुराई है और न ही बड़ी बड़ी (उत्तम श्रेणी की या लम्बी लम्बी) डोरियों के इकट्ठे करने में ही (इसकी) निष्ठा या रुचि है; बाण (के अग्रभाग) में (लौह) फलक लगाने की तो बात भी नहीं है (इसलिए) अब शिकारी बच्चे के इस घर में (ठहरने का) क्या लाभ है ? अर्थात् कोई फायदा नहीं है ।

मूर्खदातृपक्ष—

न तो बड़े वंश में उत्पन्न कुलीन पण्डितों के ग्रहण करने अर्थात् अपनाने का सामर्थ्य है और न ही महान् गुणों वाले विद्वानों को इकट्ठे करने में श्रद्धा है । माँगने पर (धनरूपी) फलप्राप्ति की भी बात तक नहीं है (इसलिए) लोभी और अज्ञानी राजा के इस घर में (ठहरने से) क्या लाभ है ? अर्थात् कोई लाभ नहीं है ।

यहाँ किसी चापार्थी और धनार्थी का विषाद श्लिष्ट शब्दों से बताया गया है । वंश, गुण, मार्गण, फल, लुब्धक और बाल इन अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग हुआ है । इन अनेकार्थक शब्दों का अभिधा द्वारा व्याधबालकपरक अर्थ नियन्त्रित हो जाने पर व्यञ्जना द्वारा मूर्खदाता से सम्बद्ध दूसरा अर्थ आता है, अतः यहाँ शाब्दी व्यञ्जना है । यदि व्याधबालकवृत्तान्त को अप्रस्तुत तथा मूर्खदातृवृत्तान्त को प्रस्तुत मानें तो यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा भी मानी जा सकती है ।

तनुतृणाग्रधृतेन हृतश्चिरं क इव तेन न मौक्तिकशङ्कया ।
स जलबिन्दुरहो विपरीतदृग्जगदिदं वयमत्र सचेतनाः ।।७२।।

तनुतृणाग्रधृतेन तेन (जलबिन्दुना) कः इव मौक्तिकशङ्कया चिरं न हृतः । अहो स जलबिन्दुः (आसीत्) अहो, इदं जगत् (तु) विपरीतदृक् (विद्यते) अत्र वयम् (एव) सचेतनाः (स्मः) ।

प्रायेण सर्वोऽपि पदार्थानां स्वरूपं न याथार्थ्येन (जाना)ति यदि कश्चिद्वेत्ति स एव विवेकीत्याह— तनुतृणाग्रेति । तनुतृणाग्रधृतेन तनुना स्वल्पेन तृणाग्रेण धृतः । तेन जलबिन्दुना मौक्तिकशङ्कया मुक्ताभ्रमेण क इव जनश्चिरमत्यर्थं हृतः समाकृष्टो न भवति । तृणाग्रस्थित (जलबिन्दुना) सर्वस्यापि मौक्तिकभ्रमो

जायत इत्यर्थः । इदं जगत् अयं लोकः । विपरीतदृक् अन्यथाबुद्धि(र्भव)ति । अहो आश्चर्यम् । अत्र जगति । स तथाविधः तृणाग्रधृतो जलबिन्दुर्न तनुमौक्तिकमिति ये मन्यन्ते ते वयं सचेतनाः चैतन्यवन्तः । धीमन्त इति यावत् । अविवेकिनः सुलभाः विवेकिनस्तु दुर्लभा इति भावः ।

छोटे से तिनके के अग्रभाग पर टिके हुए उस (जलबिन्दु) से मानों कौन व्यक्ति मोती के भ्रम से देर तक नहीं आकृष्ट हुआ (अथवा छला नहीं गया) । वह तो पानी की बूँद (थी) । आश्चर्य है ! यह संसार (तो) उल्टी दृष्टि वाला (है) यहाँ हम (ही) बुद्धिमान् (हैं) ।

यहाँ जलबिन्दु में मौक्तिकबुद्धि (अर्थात् अतस्मिन् तद्बुद्धि) रूप भ्रान्ति होने से भ्रान्तिमान् अलङ्कार है। 'क इव' में उत्प्रेक्षा होने से इन दोनों अलङ्कारों का एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर है ।

बुध्यामहे न बहुधापि विकल्पयन्तः
कैर्नामभिर्व्यपदिशेम महामतीस्तान् ।
येषामशेषभुवनाभरणस्य हेम्न-
स्तत्त्वं विवेक्तुमुपलाः परमं प्रमाणम् ॥७३॥

बहुधा विकल्पयन्तः अपि (वयं) न बुध्यामहे । तान् महामतीन् कैः नामभिः व्यपदिशेम, येषां (कृते) अशेषभुवनाभरणस्य हेम्नः तत्त्वं विवेक्तुम् उपलाः परमं प्रमाणं विद्यते ।

ये वस्तुस्वरूपं परिज्ञातुम् असमर्थास्तानि परमुखेन विश्वसन्ति तदुपालम्भनायाह—बुध्यामह इति । बहुधा नानाप्रकारेण । विकल्पयन्तो विचारयन्तः । अपि (न बुध्यामहे) तत्स्वरूपं तत्त्वतो न विद्म इत्यर्थः । बुध्यतेर्दैवादिकात् कर्तरि लट् । महामतीन् कुशाग्रबुद्धीन् महा० इति सौल्लुण्ठनवचनम् । तान् पुरुषान् कैर्नामभिर्नामधेयैर्व्यपदिशेम व्यवच्छिन्नान् कुर्याम । तेषां गुणान् कथयाम इति काकुः । व्यपदेशो नाम भेदनिबन्धनो व्यवहार इति न्यासकारः । अथ व्यवहरेमेति पाठः । तत्र निगदेन व्याख्यानम् । अशेषभुवनाभरणस्य कृत्स्नं यद्भुवनं जगत् तस्याभरणमलंकारभूतम् तस्य । हेम्नः स्वर्णस्य तत्त्वं स्वरूपं विवेक्तुं येषां महामतीनाम् । उपला निकषाश्मानः । परमम् उत्कृष्टं प्रमाणं हेतुर्भवति । प्रमाणं हेतुमर्यादाशास्त्रयत्नप्रमातृषु इत्यमरः । ये गुणिनं निर्गुणेन सह तुलयितुमुद्युञ्जते तेऽतीव मन्दा इति भावः ।

बहुत बार सोच विचार करते हुए भी (हम यह बात) नहीं समझ पाये हैं कि उन परम बुद्धिमानों को किन नामों से पुकारें जिनके (लिए) सम्पूर्ण संसार के आभूषण सोने के अपने (यथार्थ) रूप को पहचान करने के लिए पत्थर (ही) श्रेष्ठ प्रमाण हैं ?

यहाँ 'महामतीन्' शब्द के प्रयोग से प्रशंसा के बहाने निन्दा किये जाने के कारण व्याजस्तुति अलङ्कार है। अप्रस्तुत वाच्य हेमोपलवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य विद्वन्मूर्खवृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है।

संरक्षितुं कृषिमकारि कृषीवलेन
पश्यात्मनः प्रतिकृतिस्तृणपूरुषोऽयम् ।
स्तब्धस्य निष्क्रियतयास्तभियोऽस्य नून-
मश्नन्ति गोमृगगणाः पुर एव सस्यम् ॥७४॥

पश्य ! कृषीवलेन कृषिं संरक्षितुम् आत्मनः प्रतिकृतिः अयं तृणपूरुषः अकारि। (परम्) अस्य स्तब्धस्य निष्क्रियतया अस्तभियः गोमृगगणाः नूनम् अस्य पुरः एव सस्यम् अश्नन्ति।

राष्ट्रे दुर्बलामात्यादिस्थापनेन समृद्धराष्ट्राद्युपहतं स्यादित्याह—संरक्षितुमिति। कृषीवलेन कर्षकेण . . . र्षदोवलच्। वल इति दीर्घः। कृषिमात्मकृतां संरक्षितुं पश्वादिभ्यस्त्रातुमात्मनः स्वस्य प्रतिकृतिः प्रतिनिधीभूतः। अयं तृणपुरुषः तृणकृतः कृत्रिमपुरुषः। अकारि कृतः। करोतेः कर्मणि लुङ्। स्तब्धस्याचेतनस्यास्य तृणपुरुषस्य निष्क्रियतया उच्चैः क्रोशादिव्यापारशून्यत्वेनास्तभियो भयरहिताः। गवां पशूनामुक्षादीनां मृगाणां कृष्णसारादीनां गणा यूथानि पुर एव तृणपुरुषस्याग्रत एव सस्यं शाल्यादिकम्। सम्यगश्नन्ति भक्षयन्ति। पश्यावलोकय। पश्येति जनः संबुद्धयते। न केवलमाकार एव कार्यसिद्धिहेतुरिति भावः। अत्र सस्यसंरक्षणार्थं तृणकृतपुरुषकरणात् स्वस्य भक्षणरूपस्य विरुद्धकार्यस्योत्पत्तेर्विषमालंकारः। तदुक्तम्—विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिरपरं विषमं मतमिति।

देखो ! किसान ने अपनी खेती की रखवाली के लिए अपना नमूना यह तिनकों का आदमी बनाया। (परन्तु) इस जड़ के क्रियाविहीन होने के कारण समाप्त हुए डर वाले गौवों और हरिणों के झुण्ड निश्चय ही इसके सामने ही अन्न को खा रहे हैं।

किसान ने तृणपुरुष को खेती की रक्षा करने रूप इष्टप्राप्ति के लिए बनाया

था किन्तु इष्ट की प्राप्ति के स्थान पर खेती के भक्षण रूप अनिष्टाप्ति हो गई अतः यहाँ विरुद्ध कार्य की उत्पत्ति होने से विषमालङ्कार है।

अप्रस्तुतवाच्य कृषीवलतृणपुरुषवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य राजा के द्वारा दुर्बल अमात्यादि की नियुक्ति रूप वृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार भी है।

कस्यानिमेषनयने विदिते दिवौको-
लोकादृते जगति ते अपि वै गृहीत्वा।
पिण्डप्रसारितमुखेन तिमे किमेतद्
दृष्टं न बालिश विशद् बडिशं त्वयान्तः ॥७५॥

हे बालिश तिमे ! दिवौकोलोकाद् ऋते जगति कस्य अनिमेषनयने विदिते। ते वै गृहीत्वा अपि पिण्डप्रसारितमुखेन त्वया अन्तः विशद् एतत् बडिशं किं न दृष्टम् ?

कुशाग्रबुद्धिनापि दैवापतिता विपद् दुर्निवारेत्याह—कस्यानिमेषेति। बालिशः अज्ञः। शिशावज्ञे च बालिश इत्यमरः। तस्य संबोधनं बालिश। हे मत्स्य जगति लोके दिवौकसां देवानाम्। लोकादृते देवताजनान् विहायेत्यर्थः। अन्यारादितरेत्यादिना ऋतशब्दयोगे पञ्चमी। कस्यापि प्राणिनः। अनिमेषे निमेषशून्ये। नयने चक्षुषी। विदिते प्रसिद्धे। देवतानामनिमिषनयनत्वं नान्यस्येत्यर्थः। ये अप्यनिमिषे नयने ते त्वया गृहीते स्वीकृते। मत्स्या अनिमेषा इत्यादिप्रसिद्धिबलेन मत्स्यस्याप्यनिमेषनयनत्वमित्यर्थः। अन्यत्र प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपधर्मप्रतिपादके शास्त्रे एव नयनत्वेन स्वीकृत इत्यर्थः। ते इति तृतीयार्थेऽव्ययं ... च वामनः। ते मे शब्दौ निपातेषु त्वया मया इत्यर्थे इति। तथा पिण्डप्रसारितमुखेन पिण्डे बलिशाग्रे...मांसपिण्डेऽपि पिण्डाय वा प्रसारितं विवृतमुन्नमितं वा मुखमस्य येन स तथोक्तः। अन्यत्र पिण्डे परान्नादौ प्रसारितमुखो विवृताननः। ते न त्वया अन्तः तालुस्थानं कुक्षिं वा विशत् प्रविशदेतत् पुरोवर्ति बलिशं मत्स्यबन्धनम् अन्यत्र बलिशशब्देन बन्धकं पापं ध्वन्यते। किं कारणं न दृष्टम्। कारणं तु न ज्ञायत इत्यर्थः। अतो बालिशत्वं तवोपपद्यत इति भावः। यदा प्राज्ञोऽप्यज्ञ इव दोषं न पश्यति तदास्यावसरः।

हे मूर्ख मछली ! देवताओं के लोक (स्वर्ग) को छोड़कर और संसार में किसके निर्निमेष (पलक न झपकाने वाले) नेत्र प्रसिद्ध हैं ? (अर्थात् अन्य किसी

को भी ऐसे नेत्र नहीं प्राप्त हैं)। निश्चय ही उन (पारदर्शी नेत्रों) को प्राप्त करके भी (मांस अथवा अन्न के) पिण्ड (खण्ड, टुकड़े) को (पाने के लिए) मुँह फैलाने वाली तुमने (अपने) भीतर प्रवेश करते हुए इस काँटे को क्यों नहीं देखा ?

यहाँ अनिमेष नयन होते हुए भी मूर्खतावश काँटे को न देख पाना (हेतु के होने पर फलाभाव) इस रूप में उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति है क्योंकि 'बालिश' शब्द से कारण का कथन कर दिया गया है। अप्रस्तुत वाच्य मत्स्यवृत्तान्त से प्रस्तुत भूल करने वाले आपद्ग्रस्त चतुर व्यक्ति की व्यञ्जना से प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा है।

पुंस्त्वादपि प्रविचलेद् यदि यद्यधोऽपि
यायाद् यदि प्रणयने न महानपि स्यात्।
अभ्युद्धरेत् तदपि विश्वमितीदृशीयं
केनापि दिक् प्रकटिता पुरुषोत्तमेन ॥७६॥

यदि पुंस्त्वात् अपि प्रविचलेत्, यदि अधोऽपि यायात्, यदि प्रणयने महान् अपि न स्यात्। तदपि विश्वम् अभ्युद्धरेत् इति ईदृशी इयं दिक् केनापि पुरुषोत्तमेन प्रकटिता।

महतां स्वभावपरित्यागोऽपि परप्रयोजनायैव सम्पद्यत इत्याह—पुंस्त्वादपीति। पुरुषोत्तमो विष्णुः सुजनोऽपि प्रतीयते। पुंस्त्वात् पुम्भावात्। प्रविचलेद् यदि अपसरेद् वा। पुरा भगवानमृतप्रदानसमये पुंरूपं परित्यज्य स्त्रीत्वं जगामेति पौराणिकी कथा। सर्वोन्नतपदस्थोऽपि अधोऽपि पातालं चापि यायादिति यदि गच्छेत्। यातेरदादिकाल्लिङ्। पुरा भगवान् भूम्युद्धरणाय वराहरूपेण रसातलं जगामेति पौराणिकी गाथा। महानपि विश्वातिशायिविग्रहोऽपि प्रणयनेन याचने (वामनः) स्याद् यदि भवेद् वा। पुरा हरिर्बलिबन्धनाय वामनत्वमाजगामेत्यत्रापि गाथाऽनुसन्धेया। अथवा प्रणयने याच्ञायां सत्यां महान्न स्यादपि इति लघुभावाद् याच्ञाया लाघवहेतुत्वादिति भावः। तदपि तथापि। उक्तरीत्या विविधामवस्थामापन्नोऽपि विश्वं समस्तं भूतजातमभ्युद्धरेत् आपद्भ्यः संरक्षेत्। ईदृशी एवंविधा। इयं परिदृश्यमाना दिक् सन्मार्गः। पुरुषोत्तमेन विष्णुना कर्त्रा। केनापि हेतुना। इत्येवं प्रकटिता स्फुटीकृता। अथवा केनापि अनिर्वचनीयमहिम्नेति पुरुषोत्तमविशेषणमेतत्। अवद्यचरित्रः कोऽपि पुरुषः स्वपौरुषपरित्यागेऽपि नीचैर्दशायामपि याचनलाघवेऽपि येन केनापि प्रकारेण परपरित्राणनं न जहतीति भावः।

यदि पुरुषत्व का भी परित्याग करना पड़े, यदि पाताल (नीच दशा) में भी जाना पड़े और याचना के अवसर पर महान् भी न रहे (क्षुद्र भी बनना पड़े) तो भी संसार का उद्धार करना ही चाहिए, इस रूप में ऐसा यह मार्ग किन्हीं अपूर्व पुरुषोत्तम विष्णु भगवान् ने (मोहिनी, वराह और वामन आदि के रूप धारण करके) दिखला दिया है।

यहाँ वर्णनीय रूप से सत्पुरुष के प्रस्तुत होने पर उसके सदृश विष्णु का कथन होने से और उसमें पुंस्त्वात् एवं पुरुषोत्तमेन पदों के श्लिष्ट होने से श्लेष-मूलक अप्रस्तुतप्रशंसा है।

स्वल्पाशयः स्वकुलशिल्पविकल्पमेव
यः कल्पयन् स्खलति काचवणिक् पिशाचः।
ग्रस्तः स कौस्तुभमणीन्द्रसपत्नरत्न-
निर्यत्नगुम्फनकवैकटिकेर्ष्ययान्तः ॥७७॥

स्वल्पाशयः, पिशाचः यः काचवणिक् स्वकुलशिल्पविकल्पम् एव कल्पयन् स्खलति स कौस्तुभमणीन्द्रसपत्नरत्ननिर्यत्नगुम्फन कवैकटिके-र्ष्यया अन्तः ग्रस्तः विद्यते।

यः स्वयं किञ्चिज्ज्ञोऽपि सर्वज्ञेन सह स्पर्धां चिकीर्षति तद्विडम्बनायाह—स्वल्पाशय इति। स्वल्पाशयो मन्दबुद्धिः यः काचवणिक् पिशाचः। काचो नाम ओषरसारो वलयकरण्डादिः। तस्य वणिक् क्रयविक्रयकर्ता। स पिशाच इवेत्यु-पमितसमासः। पिशाच इव विगतविवेकत्वेन वणिगपि पिशाच इत्युक्तम्। स्वकुलस्य निजवंशस्य। शिल्पानां वलयादीनां विकल्पो विशेषभेद इति यावत्। तमेव कल्पयन् रचयन् स्खलतिं प्रमाद्यति। मतिमान्द्यादिति भावः। तथापि स काचवणिक् पिशाचः कौस्तुभस्य मणिविशेषस्य रत्नोत्तमस्य। सपत्नानां प्रति-पक्षाणां तत्सदृशानामिति यावत्। रत्नानां मणीनाम्। निर्यत्नेन अनायासेन। गुम्फनको रचना। तत्तत्स्वरूपपरिज्ञानेन पृथक् करणमिति यावत्। तत्र पटुः कुशलः यो वैकटिको मणिकारः। मणिकारो वैकटिक इति क्षीरस्वामी। तस्मिन् विषये संजातया ईर्ष्यया असूयया अन्तश्चेतसि ग्रस्तः। समाक्रान्तो भवति। परेष्वसूया स्वनाशायैव सम्पद्यत इत्यर्थः।

क्षुद्रहृदय (नासमझ) और दुष्ट यह जो काँच का व्यापारी अपने कुल की शिल्पकला को करने में भी लड़खड़ा रहा है (उसका कारण यह है कि) वह

रत्नों में उत्तम कौस्तुभमणि की होड़ करने वाले रत्नों को आसानी से गूँथने वाले जौहरी के प्रति होने वाली ईर्ष्या से ग्रस्त है।

यहाँ अपने कुल के शिल्प में लड़खड़ाने रूप कार्य के लिए जौहरी में ईर्ष्या रूप कारण होने से काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। अप्रस्तुत वाच्य काचवणिक् तथा वैकटिक वृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य अल्पज्ञ की बहुज्ञ के प्रति ईर्ष्या के वृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार भी है।

तत्प्रत्यर्थितया वृतो न तु कृतः सम्यक् स्वतन्त्रो भयात्
स्वस्थस्तान् न निपातयेदिति यथाकामं न सम्पोषितः।
संशुष्यन्पृषदंश एष कुरुतां मूकः स्थितोऽप्यत्र किं
गेहे किं बहुनाऽधुना गृहपतेश्चौराश्चरन्त्याखवः॥७८॥

तत्प्रत्यर्थितया वृतः, भयात् सम्यक् स्वतन्त्रः तु न कृतः। स्वस्थः तान् न निपातयेत् इति यथाकामं न सम्पोषितः। (अतएव) संशुष्यन् एष पृषदंशः मूकस्थितोऽपि अत्र किं कुरुताम्? किं बहुना? अधुना गृहपतेः गेहे चौराः आखवः चरन्ति।

यः कश्चित्स्वबाधानिवृत्तये यं कंचिद् बलिनं स्वीकृत्य स्वातिक्रमणभयेन तन्न सम्पालयति तदा स्वीकृतस्य दुर्बलत्वेनारयो निष्प्रतिबन्धाः क्लेशयितुमारभन्त इत्याह—तत्प्रत्यस्त्रतयेति तेषां मूषिकाणां प्रत्यर्थितया शत्रुत्वेन वृतः स्वीकृतः। भयात् दध्यादिघटविघटसम्भूतात् स्वतन्त्रोऽनियन्त्रणो न कृतः। सदा रज्ज्वादि-बद्ध एव स्थापितः। स्वस्थः सुखेन स्थापितः। यथा कामं प्रवृद्धः सन् तानाखून् न निपातयेत्। पतेर्ण्यन्ताल्लिङ्। इत्यनेन हेतुना यथाकामं यथेच्छं न सम्पोषितः। ओदनादिप्रदानेन न वर्धित इत्यर्थः। अत एव संशुष्यन् क्षणे क्षणे कार्श्यमाप्नुवन् एष पृषदंशो मार्जारः। ओतुर्बिडालो मार्जारः पृषदंशक आखुभुक् इत्यमरः। गृहपतेर्गृहस्थस्यापि। अत्र गेहे। मूकः ध्वनितुमपारयन् स्थितः। किं कुरुताम्। न किमपीत्यर्थः बहुना भूयसा (कथनेन) किम्। न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः। अधुनेदानीम्। आखवो मूषिकाः। उन्दुरुर्मूषिकोप्याखुरित्यमरः चौरा वस्त्रधा-न्यादिभक्षकाः। चरन्ति निश्शङ्काः प्रवर्तन्त इत्यर्थः। आपत्सहायभूतानामात्म-निर्विशेषं परिपालयेत्। नो चेत्तेषां दौर्बल्येन पुनश्चापन्निष्प्रतीकारो भवेदिति भावः।

उन (चूहों का) शत्रु होने के कारण (इसे) चुना गया है, (दधि आदि की हानि के) डर के कारण (इसे) अच्छी तरह स्वतन्त्र भी नहीं किया गया है।

सुखी और मज़बूत हुआ यह उन चूहों को नहीं मारेगा इस आशङ्का से यह इच्छानुसार (भोजनादि प्रदान करके) पोषित नहीं किया गया (इसीलिए) सूखा हुआ यह बिलाव चुप रहता हुआ भी यहाँ क्या करे। बहुत क्या कहें ? अब गृहस्वामी के घर में चोर चूहे विचरण कर रहे हैं।

यहाँ अप्रस्तुत वाच्य विडाल और चूहों के वृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य अपने घर में आश्रयप्राप्त बलवान् व्यक्ति से काम न लेने वाले स्वामी के वृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है।

एवञ्चेत् सरसस्वभावमहिमा जाड्यं किमेतादृशं
यद्येषा च निसर्गतः सरसता किं ग्रन्थिमत्तेदृशी।
मूलञ्चेच्छुचिपङ्कजश्रुतिरियं कस्माद् गुणा यद्यमी
किं छिद्राणि सखे मृणाल भवतस्तत्त्वं न मन्यामहे ॥७९॥

हे सखे मृणाल ! एवं चेत् सरसस्वभावमहिमा (तर्हि) एतादृशं जाड्यं किम् ? यदि च निसर्गतः एषा सरसता तर्हि ईदृशी ग्रन्थिमत्ता किम् ? मूलं चेत् शुचि (तर्हि) इयं पङ्कजश्रुतिः कस्मात् ? यदि अमी गुणाः तर्हि छिद्राणि किम् ? भवतः तत्त्वं न मन्यामहे।

यत्र परस्परविरुद्धगुणसद्भावो दृश्यते तदुपालम्भनायाह—एवं चेदिति। सखे प्रमाणभूत हे मृणाल बिस अनेन जडोऽपि प्रतीयते। स्वभावमहिमा त्वत्स्वरूपमाहात्म्यम्। एवमनेन प्रकारेण सरसः सार्द्रः। अन्यत्र सगुणः। सरसश्चेद्यदि तर्ह्येतादृशमेवंविधं जाड्यं शीतलत्वम्। अन्यत्र मान्द्यं च किम्। न किमपीत्यर्थः। निसर्गतः स्वभावेन। एषा सरलता ऋजुता। अन्यत्रोदारता। यद्यस्ति तर्ह्येतादृशी एवंविधा ग्रन्थिमत्ता पर्वभूयस्त्वम्। अन्यत्र कुटिलस्वभावता। किं व्यर्थेत्यर्थः। ग्रन्थिः पर्वणि कौटिल्य इति विश्वप्रकाशः। मूलं ब्रध्नः प्रकाशः। अन्यत्र वंशादिश्च। शुचि शुभ्रम्। अन्यत्र निर्मलम्। चेद्यदि तर्हि इयं पंकजश्रुतिः। पंकः कर्दमः। पंकः कर्दमपाकयोरिति विश्वः। तत्र जातं पंकजं तस्य श्रुतिः। प्रसिद्धिः पंकजमिति प्रथा। कस्माद् हेतोर्भवति। यदीयगुणास्तन्तवः विनयादयश्च तर्हि छिद्राणि अन्यत्र दूषणानि किं वृथेत्यर्थः। छिद्रं रन्ध्रे दूषणेऽपीति रत्नमाला। तस्मात् भवतस्तव। तत्त्वं पारमार्थ्यम्। न मन्यामहे साधुपक्षे स्थापयामः उत खलपक्ष इति न विद्म इत्यर्थः।

हे कमलनाल ! यदि तुम्हारे सरस स्वभाव की ऐसी महिमा है तो ऐसी जड़ता क्यों ? यदि तुम में स्वभाव से ही सरलता है तो ये गाँठें कैसी ? यदि पवित्र मूल है

तो कीचड़ में उत्पत्ति सम्बन्धी प्रसिद्धि कैसी ? यदि ये गुण हैं तो छिद्र क्यों ? हम तुम्हारी वास्तविकता समझ नहीं पा रहे हैं ।

यहाँ सरस, जाड्य, सरसता, ग्रन्थिमत्ता और शुचि आदि श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग किया गया है । सरस स्वभाव तथा जाड्य (शीतलता और मूर्खता) आदि गुणों में विरोध दिखाया गया है इसलिए यहाँ श्लेषानुप्राणित विरोधाभास अलङ्कार है ।

ये दिग्ध्वेव कृता विषेण कुसृतिर्येषां कियद् भण्यते
लोकं हन्तुमनागसं द्विरसना रन्ध्रेषु ये जाग्रति ।
व्यालास्तेऽपि दधत्यमी सदसतोर्मूढा मणीन् मूर्धभि-
र्नौचित्याद् गुणशालिनां क्वचिदपि भ्रंशोऽस्त्यलं चिन्तया ॥८०॥

ये व्याला विषेण दिग्ध्वा इव कृताः, येषां कुसृतिः कियत् भण्यते ? द्विरसनाः ये अनागसं लोकं हन्तुं रन्ध्रेषु जाग्रति । सदसतोः मूढा ते अमी व्यालाः अपि मूर्धभिः मणीन् दधति । औचित्यात् गुणशालिनां क्वचित् अपि भ्रंशः नास्ति (इति) चिन्तया अलम् ।

गुणवान् निर्गुणैरपि नैरन्तर्येण पूज्यत इत्याह—ये दिग्ध्वेति । ये व्याला भुजङ्गाः । व्याले भुजङ्गमे क्रूरे श्वापदे दुष्टजन्तुनि इति विश्वप्रकाशः । विषेण गरलेन दिग्ध्वा विलिप्य कृता निर्मिता इव भवन्ति । येषां भुजङ्गमानाम् । कुसृतिः कुत्सिता सृतिः कुसृतिर्वक्रगतिः । कियत् भण्यते कथ्यते ? वक्तुं न शक्यते इत्यर्थः । सृगतावित्यस्माद् धातोर्भावे स्त्रियां क्तिन् । अन्यत्र कुसृतिः शाठ्यम् । कुसृतिर्निसृतिश्शाठ्यमित्यमरः । द्विरसनाः जिह्वाद्वयोपेताः । अन्यत्रासत्यवादिनश्च । ये भुजङ्गाः । अनागसं निरपराधं लोकं जनं हिंसितुं रन्ध्रेषु वल्मीकादिषु । अन्यत्र विनिपातेषु । जाग्रति प्रबुद्धा भवन्ति । जागर्तेर्लटि अदभ्यस्तादिति झेरदादेशः । सदसतोः सुजनदुर्जनयोः गुणदोषयोश्च । अन्यत्र मूढाः सदसद्विवेकरहिताः । तेऽमी व्याला अपि मूर्धभिः शिरोभिः मणिं दधति बिभ्रति । तस्माद् गुणशालिनां विद्यादिसद्गुणशोभिनामौचित्यात्सम्मानस्य समुचितत्वात् । क्वचिदपि कुत्रापि भ्रंशः स्थानाच्च्युतिर्नास्ति । न विद्यते । तस्मात् स्वपदभ्रंशशंका न कर्तव्येत्यर्थः ।

जो साँप मानों ज़हर में बुझाकर (डुबोकर) बनाये गये हैं, जिनकी टेढ़ी चाल (दुष्टता) का कितना बखान किया जाय ? दो जीभों वाले बनकर जो निरपराध

व्यक्ति को मारने के लिए छेदों में (बैठकर) जागते रहते हैं। (इस प्रकार के) बुरे भले आदमी के विषय में मूर्ख (विवेकरहित) वे ये साँप भी (अपने) सिरों पर (इन चूड़ा)मणियों को धारण करते हैं। (सम्मान-प्राप्ति की) उपयुक्तता होने के कारण गुणी पुरुषों का कहीं भी (अपने उचित पद या स्थान से) पतन नहीं होता है (इसलिए किसी प्रकार की) चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

यहाँ अप्रस्तुत वाच्य भुजङ्गचूडामणिवृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य दुर्गुणी व्यक्तियों द्वारा भी गुणवानों का सम्मान किया जाता है—इस अर्थ की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा है। कुसृति, द्विरसनाः तथा रन्ध्रादि श्लिष्ट पदों के प्रयोग के कारण यह अप्रस्तुतप्रशंसा श्लेषानुप्राणित है। प्रथम तीन पंक्तियों के भीतर सर्पों द्वारा चूडामणि का सम्मान किया जाता है इस विशेष वचन का चतुर्थ पंक्ति के गुणशालियों की पदच्युति नहीं होती है—इस सामान्य वचन से समर्थन होने के कारण अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

अहो ! स्त्रीणां क्रौर्यं हत रजनि धिक्त्वामतिशठे
वृथा प्रक्रान्तेयं तिमिरकबरीविश्लथधृतिः ।
अवक्तव्ये पाते जननयननाथस्य शशिनः
कृतं स्नेहस्यान्तोचितमुदधिमुख्यैर्ननु जडैः ॥८१॥

अहो ! स्त्रीणां क्रौर्यम्। अतिशठे ! हतरजनि ! त्वां धिक्। इयं तिमिरकबरीमोक्षविधृतिः वृथा प्रक्रान्ता। जननयननाथस्य शशिनः अवक्तव्ये पाते (सति) उदधिमुख्यैः जडैः ननु स्नेहस्य अन्तोचितं कृतम्।

सकलजनाह्लादकारिणो भर्तुर्व्यसने सत्यपि दुष्टस्त्रीहृदयं न व्यथते किन्तु बन्ध्वादिहृदयमेव व्यथत इत्याह—अहो क्रौर्यमिति। अतिशठे अतिवक्रस्वभावे। निकृतः स्वनृजुः शठ इत्यमरः। हतरजनि भो दग्धरात्रि त्वां भवतीं धिक्। धिक् शब्दो भर्त्सने वर्तते। धिङ् निर्भर्त्सननिन्दयोरित्यमरः। जननयननाथ्यस्य प्रार्थनीयस्य न कृतं नाकारि। समुद्रादयस्तु चन्द्रे अतिवृद्धे सति वर्धनादिकं प्राप्नुवन्ति। क्षीणे तु न प्राप्नुवन्ति। रात्रिस्तु चन्द्रक्षये तिमिरकबरीं धत्ते। परिपूर्णे तु तस्मिन् न धत्त इति बन्धुहृदयादपि स्त्रीहृदयस्य अनुचितकर्मकरणात् क्रूरत्वमिति भावध्वनिः। शशिनश्चन्द्रस्य पाते नाशे समासन्ने अतिसमीपस्थे सति कृष्णपक्षावसानेपीत्यर्थः। त्वया भवत्या इयं परिदृश्यमानातिमिरकबरीमोक्षकुसृतिः तिमिरमन्धकार एव कबरीकेशपाशः तस्य मोक्षः परित्यागः तस्मिन् कुसृतिः शठता। कुसृतिर्निसृतिश्शाठ्यम् इत्यमरः। प्रक्रान्ता समारब्धा तिमिरकबरीमोक्षो नाम कृत

इत्यर्थः । तदेव व्यनक्ति । प्रेमापायोचितं प्रेमापायस्यानुरागराहित्यस्योचितं योग्यमेव कृतम् अकारि । तस्मात् क्रौर्यं क्रूरचित्तं स्त्रीणां नारीणामेव । अहो आश्चर्यम् । पुरुषाणां तु न तथेत्याह—तु शब्दो व्यतिरेके । किन्तु विशेषोऽस्तीत्यर्थः जडैर्जडप्रभृतिभिरुदधिमुख्यैः समुद्रादिभिः । मुख्यशब्देन चकोरकैरव चन्द्रकान्तादयो लक्ष्यन्ते ।

आश्चर्य है ! नारियों के भीतर (कितनी) क्रूरता होती है ? अति निर्दय एवं हत्यारिन रात ! तुम्हें धिक्कार है । अन्धकार रूपी जूड़े (बंधे बालों) को खोलकर (फैलाकर) धारण करने (का) यह कार्य (तुमने) व्यर्थ ही आरम्भ किया हुआ है । (तुम तो प्रसन्न हो इसके विपरीत (समस्त) लोगों के नेत्रों के स्वामी चन्द्रमा के अकथनीय (अशुभ) पतन के हो जाने पर स्तब्ध एवं मौन हुए समुद्र आदि (बन्धु)जनों ने निश्चय ही प्रेम और सहानुभूति की चरम सीमा के अनुरूप कार्य किया है ।

अभिप्राय यह है कि चन्द्रमा के ऊपर आपत्ति आने (उसके अस्त होने) पर समुद्रादि बन्धुजन तो शान्त होकर बैठ गये हैं किन्तु रात्रि रूपी नायिका अपने केश खोलकर प्रसन्नता प्रकट कर रही है ।

यहाँ तिमिर में कबरी तथा रजनी में स्त्री का आरोप होने से रूपक है । यहाँ प्रस्तुत वाच्य रजनी, शशी और समुद्र में क्रमशः नायिका, नायक और बन्धु के व्यवहार का समारोप होने से समासोक्ति है । रजनी के कबरीबन्ध के मोक्ष रूप कार्य के लिए स्त्रियों की क्रूरता रूप कारण की प्रतीति होने से काव्यलिङ्ग अलङ्कार है तथा अप्रस्तुत वाच्य रजनी, चन्द्र और उदधि वृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य चन्द्रमा की विपत्ति, रात्रि की क्रूरता तथा समुद्रादि की सहानुभूति के वृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा है ।

अहो गेहेनर्दी दिवसविजिगीषाज्वररुजा
प्रदीपोऽयं स्थाने ग्लपयति मृषाऽमूनवयवान् ।
उदात्तस्वच्छन्दाक्रमणहृतविश्वस्य तमसः
परिस्पन्दं द्रष्टुं मुखमपि च किं सोढममुना ॥८२॥

अहो ! गेहेनर्दी अयं प्रदीपः स्थाने (तिष्ठन्) दिवसविजिगीषाज्वररुजा अमून् अवयवान् मृषा ग्लपयति । (परम्) अमुना उदात्तस्वच्छन्दाक्रमणहृतविश्वस्य तमसः परिस्पन्दं मुखमपि द्रष्टुं किं सोढम् ?

यः कश्चिच्छत्रुसन्निधौ किञ्चिदपि कर्तुमशक्नुवन् आत्मगृहाभ्यन्तर एव शौर्यं प्रदर्शयति तं प्रत्याह—गेहेनर्दतीति गेहेनर्दी गेहेशूरः। गेह एव शौर्याडम्बरं प्रकाशयन् गेहेनर्दीत्युच्यते गणरत्नमहोदधौ। पात्रे समितादित्वान् णिनिप्रत्ययान्तस्य तत्पुरुषसमासनिपातः। निपातसामर्थ्यादेव सप्तम्या अलुक्।

गेहेनर्तीति पाठः। गेहे मन्दिरे नृत्यति परिस्फुटतीति। तथोक्तः प्रदीपः कर्ता। स्वस्थाने स्वस्यात्मनः स्थाने अधिकरणे मल्लिकादौ स्थितः सन् दिवसविजिगीषाज्वररुजा दिवसस्य अह्नो विजिगीषा विजेतुमिच्छा अन्यत्र तेजसि विजिगीषा ध्वन्यते। तया ज्वरः सन्तापः स एव रुग्व्याधिः तया उपलक्षितः सन्नमूनवयवान् घटपटादेशान्। अन्यत्र सम्बन्धिनः पुत्रादीन्। वृथा व्यर्थमेव ग्लपयति। स्वसम्पर्केण मलिनयति। गेहेऽपीति या वा म्लायते। हेतुमण्यन्तत्वाल्लट्। एतावदेव प्रदीपसामर्थ्यमित्यर्थः। अथवाऽप्यथत्वस्य म्लापयतीत्यनेन सम्बन्धः। तथापि उदारस्वच्छन्दाक्रमणहृतविश्वस्य उदारं महत् यत् स्वच्छन्दाक्रमणं स्वेच्छलङ्घनम्। तेन हृतं परिभूतं विश्वं जगद् येन तथोक्तं तस्य तमसोऽन्धकारस्य मुखमपि प्रारम्भमपि वक्त्रमपीत्यर्थः। मुखं निस्सरणे वक्त्रे प्रारम्भोपाययोरपीति विश्वः। परिस्पष्टं यथा भवति तथा द्रष्टुमवलोकयितुम्। अमुना प्रदीपेन सोढं किं शक्यमित्यर्थः। सहेर्भावक्तः प्रत्ययः। कश्चिच्छूरमन्यो ह्यशक्तानेव बाधते न कदाचिदपि शक्तानिति भावः।

घर में ही शोर करने वाला यह दीपक (अपनी) जगह (ही) रहता हुआ दिवस को जीतने की इच्छा के ज्वर के रोग के कारण व्यर्थ ही इन अङ्गों को कष्ट पहुँचा रहा है, (पर) क्या इसके द्वारा विश्व के उदात्त एवं स्वच्छन्द गमनागमन को अपहृत करने वाले अन्धकार के स्पन्दन और मुख के देखने को सहा जा सकता है?

यहाँ अप्रस्तुत वाच्य अन्धकार को जीतने का सामर्थ्य न रखने वाले प्रदीप वृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य निर्बलों को सताने वाले शूर के वृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है।

नामाप्यन्यतरो निमीलितमभूत्तत्तावदुन्मीलितं
प्रस्थाने स्खलतः स्ववर्त्मनि विधेरप्युद्गृहीतः करः।
लोकश्चायमनिष्टदर्शनकृताद् दृग्वैशसान्मोचितो।
युक्तं काष्ठिक लूनवान् यदसि तामाम्रालिमाकालिकीम्॥८३॥

(रे) काष्ठिक! यत् त्वम् आकालिकीं ताम् आम्रालिं लूनवान् तत्

युक्तम् (अनेन) अन्यतरोः नाम अपि निमीलितम् अभूत्, तत् तावद् उन्मीलितम् स्ववर्त्मनि प्रस्थाने स्खलतः विधेः अपि करः उद्गृहीतः। अयं च लोकः अनिष्टदर्शनकृताद् दृग्वैशसात् मोचितः।

सततं सद्वृत्तस्य क्वचित्प्रमादादमार्गे प्रवृत्तस्य वधो न प्रशस्यत इत्याह—नामाप्यन्यतरोरिति। काष्ठानीन्धनानि प्रयोजनमस्य काष्ठिकः तस्य सम्बोधनं काष्ठिक। प्रयोजनमिति ठक्। आकालिकीम् अकाले वसन्तव्यतिरिक्तकाले कुसुमिता आकालिकी। अध्यात्मादिपाठात् ठञ् भावार्थे। पुष्पितो हि वृक्षः पुनरुत्पन्न इवाभिनवः तामाकालिकीं आम्रालिं चूततरुपंक्तिम्। यद् यस्मात् लूनवान् छिन्नवान्। नसिध्मादिभ्य इति निष्ठानत्वम्। तस्मादन्यंतरोश्चूत-व्यतिरिक्ततरो र्नामापि नामधेयमपि निमीलितं तिरोहितमभूत्। तत्तावद् तावदेव चूतनामैव उन्मीलितं प्रकाशितमिति। सोल्लुण्ठनं वचनम्। तावच्छब्दोऽवधारणे। स्ववर्त्मन्यात्मीयमार्गे वसन्तव्यतिरिक्तकाले चूतेषु पुष्पोत्पादनं विधिर्मार्गः तत्र प्रस्थानं गमनं सञ्चरणमिति यावत्। तत्र स्खलतः प्रमाद्यतः। अकाले पुष्पमुत्पादयत इत्यर्थः। विधेर्ब्रह्मणः करः पाणि गृहीतः। त्वयैवं कदाचिदपि न कर्त्तव्यमिति प्रतिबद्धः। अन्यत् प्रयोजनान्तरमपि अस्तीत्यर्थः। अयं लोको जनश्च। अदृष्टदर्शनभुवः अदृष्टस्याभूतपूर्वस्यौत्पत्तिकस्य कुसुमप्रादुर्भावस्य दर्शनेनावलोकनेन भवत्युत्पद्यत इति तथोक्तः। दृग्वैशसात् नयनसङ्कटान्मोचितः सन्त्याजितः औत्पातिकदर्शनात् खलु भयमुत्पद्यते। मुञ्चयते हेतुमण्ण्यन्तात्क्तप्रत्ययः। तस्मात्तरुच्छेदनं युक्तम्। उचितमेवेति सर्वत्र व्यतिरेको द्रष्टव्यः। सन्ततपरोपकारिष्वपि स्वजनेषु गुणानेव दोषीकृत्य तानेव समूलं नाशयन्ति अनात्मज्ञा इति भावः।

अरे लकड़हारे! जो तुम असमय (वसन्त से भिन्न) समय में (विकसित) होने वाली उस आम्रवृक्षपंक्ति को काट चुके हो वह (तुम्हारा कर्म) ठीक है। (इससे) दूसरे पेड़ का नाम भी समाप्त हो गया है और (आम का) वह नाम (प्रसिद्ध होकर) प्रकट हो गया है। (और फिर) अपने रास्ते पर चलने में भटकने वाले विधाता का हाथ भी (उसे ठीक चलाने के लिए) रोक लिया है (ब्रह्मा भी तुम्हें किसी प्रकार की सत्प्रेरणा नहीं दे पाया है)। और यह संसार अप्रिय (आपत्ति) के देखने से उत्पन्न नयन संकट से बचा लिया गया है।

यहाँ विपरीतलक्षणा से तुमने अच्छा काम किया कहकर लकड़हारे के बुरे काम को बताकर अपकारातिशय की अभिव्यञ्जना की गई है। अप्रस्तुत वाच्य वृक्ष और लकड़हारे के वृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य परोपकारी लोगों को सताने वाले अनात्मज्ञ, मूर्ख एवं दुष्ट व्यक्ति के वृत्तान्त की प्रतीति होने से यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा भी है।

वाताहारतया जगद्विषधरैराश्वास्य निःशेषितं
ते ग्रस्ताः पुनरभ्रतोयकणिकातीव्रव्रतै र्बर्हिभिः ।
तेऽपि क्रूरचमूरुचर्मवसनै र्नीताः क्षयं लुब्धकै
र्दम्भस्य स्फुरितं विदन्नपि जनो जाल्मो गुणानीहते ॥८४॥

वाताहारतया विषधरैः जगत् आश्वास्य निःशेषितम् । ते पुनः अभ्रतोयकणिकातीव्रव्रतैः, बर्हिभिः ग्रस्ताः । ते अपि क्रूरचमूरुचर्मवसनैः लुब्धकैः क्षयं नीताः । इत्थं दम्भस्य स्फुरितं विदन् अपि जाल्मो जनः गुणान् ईहते ।

बाह्ययैव शिष्टमुद्रया दुष्टा न विश्वनीयास्तथाप्यज्ञो लोकस्तस्यैवावश्यम्भावमाकाङ्क्षत इत्याह—वाताहारतयेति । विषधरैः । धरन्तीति धराः । मूलविभुजादिदर्शनात् कप्रत्ययः । विषस्य धरा विषधराः सर्पाः तैः कर्तृभिः । महीध्रादयो मूलविभुजादिदर्शनादिति वामनः । वाताहारतया वायुभक्षणत्वेन । आश्वास्य विश्वस्य विश्वासं जनयित्वा । जगत्समस्तभूतजातं निश्शेषं साकल्येन नाशितम् । पुनरनन्तरम् । ते विषधराः अभ्रतोयकणिकातीव्रव्रतैः अभ्रेभ्यो मेघेभ्यः सकाशात् यास्तोयकणिका जलबिन्दवस्ताभिः । तीव्रं दुश्चरं व्रतं नियमो येषां ते तथोक्ताः अभौमजलपायिन इत्यर्थः । तै र्बर्हिभि र्मयूरै र्ग्रस्ताः भक्षिताः । ग्रस अदन इत्यस्मात् कर्मणि क्तप्रत्ययः । ते बर्हिणोऽपि क्रूरचमूरुचर्मवसनैः क्रूरं कठिनं चमूरो मृगस्य चर्मैव वसनं छादनं येषां ते तथोक्ताः । विश्वासजननाय मृगचर्मधारिण इत्यर्थः । तै र्लुब्धकै र्मृगयुभिः । मृगयुर्लुब्धकश्च स इत्यमरः । क्षयं नाशं नीताः प्रापिताः नयतेः कर्मणि क्तः । एवं दम्भस्य कैतवस्य कपटस्येति यावत् । दम्भस्तु कैतवे कल्क इति विश्वः । स्फुरितं विजृम्भणम् । विदन्नपि जाल्मः अविमृश्यकारी । जाल्मोऽसमीक्ष्यकारी स्यादित्यमरः । जनो लोकः । गुणान् वाताहारत्वादीन् । ईहते आकाङ्क्षते । बाह्यगुणलेशदर्शनेनैव निर्गुणमपि गुणिनं मन्यते इत्यर्थः ।

वायु का आहार करने के कारण संसार को विश्वास दिलाकर साँपों ने उसे समाप्त कर दिया है। वर्षाजल की बूंदों के ही (पान का) कठिन व्रत धारण करने वाले मयूरों ने उन साँपों को खा लिया है । चमूरू मृग के कठोर चर्म को धारण करने वाले व्याधों ने उन मोरों का भी नाश कर दिया है । अविवेकी (मूर्ख) मनुष्य दम्भ के उदय को जानता हुआ भी इन गुणों को चाहता है (अर्थात् धर्म का ढोंग रचने वाले इन धूर्तों के कपट के व्यवहार से हानि उठा कर भी वह वाताहारादि गुणों वाले व्यक्तियों में श्रद्धा रखता है ।

यहाँ अप्रस्तुत वाच्य, विषधर, मोर तथा व्याध वृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य बाह्य आडम्बर करने वाले ढोंगियों से ठगे जाने वाले व्यक्ति के वृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है। दम्भं विदन् अपि जाल्मो जनः गुणान् ईहते — अर्थात् ढोंग को समझता हुआ भी मूर्ख व्यक्ति इन गुणों को चाहता है यहाँ विरोध है क्योंकि वह अज्ञानी है इस रूप में परिहार हो जाता है—इस प्रकार यहाँ विरोधाभास अलङ्कार है।

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश 7.283 में इसे विध्ययुक्ततादोष के उदाहरण के रूप में रखा है। वाताहार का व्रत सबसे कठिन है, उससे अभ्रतोयकणिका-पान का व्रत सरल है और मृगचर्म के धारणमात्र का व्रत बहुत सरल है। अतः सरलता के क्रम से सबसे पहले मृगचर्म धारण करने के व्रत का उसके बाद अभ्रतोयकणिका के व्रत का और सबसे अन्त में वाताहार व्रत का वर्णन करना चाहिए था। यहां उसका क्रम उलटकर वर्णन किया गया है।

ऊढा येन महाधुरः सुविषमे मार्गे सदैकाकिना
सोढोयेन कदाचिदेव न निजे गोष्ठेऽन्यशौण्डध्वनिः।
आसीद् यस्तु गवां गणस्य तिलकस्तस्यैव सम्प्रत्यहो
धिक् कष्टं धवलस्य जातजरसो गोः पण्य मुद्घोष्यते ॥८५॥

एकाकिना येन सदा सुविषमे मार्गे महाधुरः ऊढाः। येन निजे गोष्ठे कदाचिदेव अन्यशौण्डध्वनिः न सोढः। यः तु गवां गणस्य तिलकः आसीत्। अहो, सम्प्रति जातजरसः धवलस्य तस्य एव गोः पण्यम् उद्घोष्यते (इति) धिक् कष्टम्।

ऊढो येनेति। सुविषमे निम्नोन्नते मार्गेऽध्वनि। एकाकिना असहायेन वृषभेण महान् भारो यस्य स तथोक्तः। रथादिरित्यर्थः। धुतः धरतेः कर्मणि क्तप्रत्ययः। येन वृषभेणैव कदाचित् कस्मिंश्चित् काले निजे स्वकीये गोष्ठे व्रजादौ। अन्यशौण्डध्वनिः अन्यस्यापरस्य यौवनदर्पातिशयमत्तस्य। मत्ते शौण्डोत्कक्षीबा इत्यमरः। ध्वनिर्नादोऽपि न सोढः न क्षान्तः। कर्मणि क्तः। यस्तु गवां पशूनां यूथस्य गणस्य तिलक आसीत्। सम्प्रति इदानीम्। जात-जरसः परिप्राप्तवार्धकस्यात एव धवलस्य शोणितक्षयेण शुभ्रत्वमापन्नस्य गोः पशो वृषभस्येत्यर्थः। गोशब्देनाज्ञोऽपि ध्वन्यते। पुण्यं सच्चरितमुद्घोष्यते संस्तूयते। पुरा मयैवं कृतमिति सर्वजनसमक्षं सङ्कीर्त्यत इत्यर्थः। तस्य तथाविधं कष्टं निन्दितकृत्यं धिक्। आत्मस्तुतिरनाचारत्वेन परिहार्येति भावः।

अकेले जिसने हमेशा बहुत ऊँचे नीचे रास्ते पर बड़े बड़े भार ढोये, जिसने अपनी गोशाला में कभी भी अन्य मतवाले साँड की हुङ्कार नहीं सही और जो बैलों के समूह का तिलक था, आश्चर्य है, अब बूढ़े हुए उसी सफेद बैल की (बेचने के लिए) बोली लगाई जा रही है। धिक्कार है और यह बड़े दुःख की बात है।

'पण्यमुद्घोष्यते' इस वाक्य से बैल के भावी वध की व्यञ्जना से प्रतीति होने के कारण यहाँ करुणरसध्वनि है। अप्रस्तुत वाच्य बैल के वृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य आजन्म परोपकारी किन्तु वृद्धावस्था में दुर्दशाग्रस्त व्यक्ति की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है।

अस्थानोद्योगदुःखं जहिहि नहि नभः पङ्गुसंचारयोग्यं
स्वायासायैव साधो तव शलभ जवाभ्यासदुर्वासनेयम्।
ते देवस्याप्यचिन्त्याश्चटुलित भुवनाभोगहेलावहेला-
मूलोत्खातानुमार्गागतगिरिगुरव स्तार्क्ष्यपक्षाग्रवाताः ॥८६॥

(हे) साधो शलभ ! अस्थानोद्योगदुःखं जहिहि, नभः हि पङ्गुसञ्चारयोग्यं न (विद्यते)। तव इयं जवाभ्यासदुर्वासना स्वायासाय एव। चटुलितभुवनाभोगहेलावहेलाः, मूलात्खातानुमार्गागतगिरिगुरवः ते तार्क्ष्यपक्षाग्रवाताः देवस्य अपि अचिन्त्याः (सन्ति)।

दुर्बलः प्रबलसाध्यकर्मारम्भणेनापहासायतनमायासपात्रं च स्यात्। प्रबलस्त्वसाध्यमपि कर्मानायासेनैव प्रसाध्य सकलश्लाघनीयमहिमा भवतीत्याह—अस्थानोद्योगेति। साधो अज्ञ मूढेति यावत्। भो शलभ पतङ्ग। समौ पतङ्गशलभावित्यमरः। अस्थानोद्योगदुःखम् अस्थाने अशक्यविषये य उद्योगः पुरुषकारः तेन यद्दुःखं तत् जहिहि परित्यज। ओहाक् त्याग इत्यस्मात् लोट्प्रत्ययः। तत्र हेतुमाह—नभो गगनम्। पङ्गुसंचारयोग्यम्। पङ्गुः पादशक्तिहीनः। तस्य संचारयोग्यं संचरणार्हं न भवति। तस्मात् तवेयं जवाभ्यासदुर्वासना जवस्य वेगस्याभ्यासः परिचयः स एव दुर्वासना दुर्बुद्धिः अथवा जवाभ्यासनाय दुर्वासना दुरभिनिवेशः। स्वायासायैव स्वस्य आत्मन आयासाय क्लेशाय एव भवति। प्रभूतसामर्थ्यवतस्तु न तथेत्याह—चटुलितस्य प्रचलितस्य भुवनाभोगस्य लोकविस्तारस्य या वेला मर्यादा तस्या अवहेलयाऽनादरेणामूलं मूलादारभ्योत्खाताः समुत्पाटिताः। मार्गमनुगताः अनुमार्गम्। गरुडमार्गानुसारिण इत्यर्थः। ते च ते आगतास्समागच्छन्तः संश्लिष्यायाता इति यावत्। ये गिरयः पर्वताः तैर्गुरवो

भारायमाणाः ते तथाविधाः। तार्क्ष्यपक्षाग्रवाताः। तार्क्ष्यस्य गरुडस्य ये पक्षाग्रेषु वाता वायवः। देवस्य परमेश्वरस्याप्यचिन्त्याः चिन्तितुमशक्या भवन्ति। ईश्वरोऽपि स्मर्तुं न शक्नोति किमुतान्य इत्यर्थः।

अरे भले परवाने! अनुचित स्थान पर परिश्रम करने का कष्ट छोड़ो। क्योंकि आकाश लंगड़े व्यक्तियों के चलने योग्य नहीं (है)। तेज़ी से चलने का अभ्यास करने की तुम्हारी यह दुःसाहस भरी इच्छा (तुम्हारे) अपने (व्यर्थ) परिश्रम के लिए ही होगी। (दूसरी ओर) हिलते हुए भुवनविस्तार की अनायास उपेक्षा करने वाले तथा जड़ से उखाड़े जाकर मार्ग में आये हुए पर्वतों से भारी बने हुए, गरुड़ के पंखों के अग्रभाग (से चालित) वे वायु विष्णु देव द्वारा भी अचिन्त्य होते हैं।

भाव यह है कि दुर्बल व्यक्ति यदि अपने सामर्थ्य से बढ़कर कार्यभार उठाता है तो उसे व्यर्थ कष्ट उठाना पड़ता है। विशेष सामर्थ्य से युक्त व्यक्ति ही महान् कार्य कर पाता है। आकाश में तीव्र गति से चलने की क्षमता वायु में ही है जो पर्वतों को भी उखाड़ कर साथ ले चलता है।

यहाँ जहिहि न हि नभः में ह् और न् वर्णों की आवृत्ति है, भुवनाभोग में भ वर्ण की अनेक बार आवृत्ति है और मूलोत्खातानुमार्गागतगिरिगुरवः में म्, ग्, र् वर्णों की आवृत्ति है अतः यहाँ वृत्त्यनुप्रास है। हेलावहेला में एक ही क्रम से स्वर व्यञ्जनों की आवृत्ति होने से यमकालङ्कार है। अस्थानोद्योगं जहिहि इस वाक्यार्थ के लिए न हि नभः पङ्गुसञ्चारयोग्यम् इस वाक्यार्थ को हेतु रूप में उपस्थित किया गया है इसलिए यहाँ काव्यलिङ्ग है। और यहाँ अप्रस्तुत वाच्य शलभ और तार्क्ष्य वृत्तान्त से दुर्बल के उपहास और सबल की प्रशंसा के वृत्तान्त की प्रतीति व्यञ्जित होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है।

चन्द्रेणैव तरङ्गभङ्गिमुखरं संवर्ध्यमानाम्भसो
दद्यु र्जीवित मेव किं गिरिसरित्स्रोतांसि यद्यम्बुधेः।
तेष्वेव प्रतिसंविधानविकलं पश्यत्सु साक्षिष्विव
द्रागदर्पोद्धुरमागतेष्वपि न स क्षीयेत यद्यन्यथा ॥८७॥

यदि चन्द्रेण एव संवर्ध्यमानाम्भसः अम्बुधेः तरङ्गभङ्गिमुखरं (यत्) जीवितं (प्राप्यते) किं (तत्) जीवितम् एव गिरिसरित्स्रोतांसि दद्युः? यदि (एतत्) अन्यथा तेषु एव प्रतिसन्धानविकलं पश्यत्सु साक्षिषु इव द्राक दर्पोद्धुरम् आगतेषु अपि स न क्षीयेत।

महतो महानेवोपकर्तुं समर्थो नान्य इत्याह—चन्द्रेणैवेति। गिरिसरित्स्रोतांसि गिरिषु हिमवदादिषु याः सरितो नद्यस्तासां प्रवाहाः। चन्द्रेण निशाकरेण नान्येनेत्यर्थः। तरङ्गभङ्गिबहुलं तरङ्गाणामूर्मिणां भङ्गेन सञ्चारेण बहुलं प्रचुरं यथा भवति तथा भङ्गे गत्यर्थाद् भावे घञ्। संवर्ध्यमानं प्रभूतीक्रियमाणमम्भो जलं यस्य स तथोक्तः। समुद्रस्य जीवनमेवोदकमात्रम् अन्यत्र प्राणधारणमात्रम्। धनादिकमित्यर्थः। दद्युः किम् ? किंशब्द आक्षेपे। नैवेत्यर्थः। यद्यन्यथा यद्येवं चेत् जीवनं ददति चेदित्यर्थः। तेष्वेव गिरिसरित्स्रोतस्सु प्रतिसंविधानविकलं प्रतिक्रियाविहीनं यथा तथा पश्यत्सु अवलोकयत्सु साक्षिषु सामाजिकजनेष्विव साक्षाद् द्रष्टरि सञ्ज्ञायामितीनिप्रत्ययः। द्राक् शीघ्रं दर्पोद्धुरं वेगबहुलं यथा तथा आगतेषु अभिमुखमापतितेष्वपि केनाम्बुधिनान संक्षीयेत न संक्षयं प्राप्येत क्षि क्षय इत्यस्माद् भावे लिङ्। सरितस्समागता अपि समुद्रस्य कार्श्यं कार्त्स्न्येन न परिहर्तुं शक्नुवन्ति। किमु वृद्धिं प्रापयितुमिति भावः। सामाजिका अपि कस्मिंश्चित् केनचित् क्लिश्यमाने दिदृक्षया समागता अपि क्लेशं कर्तुं परिहर्तुं वा न शक्नुवन्ति। किन्तु माध्यस्थ्येन पश्यन्ति। तथा सरित्स्वागतास्वपि समुद्रस्य वृद्धिः क्षयो न वेत्यवसेयम्।

यदि प्रवृद्ध जल वाले समुद्र को लहरों की हिलोरों से शब्दायमान जो जीवन चन्द्रमा से ही (मिलता है) तो वही (भला) क्या पहाड़ी नदियों के प्रवाह देंगे ? अर्थात् वे वैसा जीवन नहीं दे सकेंगे। यदि यह बात मिथ्या है तो (लोक में सुख-दुःख के अवसर पर) प्रतिक्रियारहित (उपकारापकार की चेष्टा से विरहित) होकर साक्षात् द्रष्टा बनकर आये हुए तटस्थ व्यक्तियों की भाँति (पहाड़ी नदियों के उन्हीं प्रवाहों) के शीघ्र दर्पयुक्त होकर (अत्यन्त वेग से मिलने के लिए) आने पर भी (कृष्णपक्ष में) समुद्र को घटना नहीं चाहिए। (परन्तु उनके मिलने पर भी सागर में जलवृद्धि नहीं होती और उसमें जलाभाव बना ही रहता है)।

स्रोतों को साक्षी के समान बताने के कारण यहाँ उपमालङ्कार है। अप्रस्तुत वाच्य समुद्र और क्षुद्र नदी के वृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य प्रभावशाली व्यक्ति और सामान्य तटस्थ व्यक्ति के वृत्तान्त की प्रतीति होने से यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा भी है।

किलैकचुलुकेन यो मुनिरपारमब्धिं पपौ
सहस्रमपि घस्मरोऽविकृतमेष तेषां पिबेत्।
न सम्भवति किन्त्विदं बत विकासिधाम्ना विना
सदप्यसदिव स्थितं स्फुरितमन्त ओजस्विनाम् ॥८८॥

यः (मुनिः) किल एकचुलुकेन अपारम् अब्धिं पपौ (सः) एष घस्मरः तेषां सहस्रम् अपि पिबेत् । किन्तु इदं विकासिधाम्ना विना न सम्भवति ? बत ओजस्विनाम् अन्तः स्थितं सत् अपि स्फुरितम् असत् इव (प्रतिभाति) ।

महतामन्तरेण बलेनैव कार्यसिद्धिः न बाह्यैः साधनकलापैरित्याह—किलैक इति । प्रक्षिप्तोऽयं श्लोकस्तथापि व्याख्यायते । यो मुनिः अगस्त्यः । अपारं निरवधिकम् । अब्धिं समुद्रमेकेन चुलुकेन करतलाभ्यन्तरेण करणेन पपौ पीतवान् किल । किलेति वार्तायाम् । घसति भक्षयति सर्वमिति घस्मरो वाडवाग्निः । संहाररुद्रो वा । सृघस्यदः क्मरच् इति क्मरच् प्रत्ययः । घस्मरो भक्षकोऽद्‌मर इत्यमरः । तेषामब्धीनामपि सहस्रमविकृतं भयादिविकृतिरहित-मेवेति क्रियाविशेषणम् । किलेत्यत्रापि किल शब्द आकृष्यते । इदं समुद्रपानम् । विकासिधाम्ना प्रसृतकरेण तेजसा विना न सम्भवति । किन्तु न संघटते । किमिति काकुः । सूर्यादिवद् बाह्यप्रकाशरहितोपि सम्भवत्येवेत्यर्थः । तदेवोप-पादयति—ऊर्जस्विनां तेजोऽतिशययुक्तानाम् । अन्तर्हृदये स्फुरितं तेजः स्फुरणं सदपि विद्यमानमपि असदिव काष्ठादिगतवह्न्यादिवदविद्यमानमिव स्थितं भवति । यदाह कालिदासः —

शमप्रधानेषु तपोधनेषु
गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः । इति ।।

निश्चय से यह कहा जाता है कि जिस (अगस्त्य) ने एक चुल्लू में अपार समुद्र को पी लिया था (वह) यह (लोकप्रसिद्ध मुनि) भक्षक होने पर वैसे हज़ारों को बिना विकृत हुए पी लेंगे । किन्तु यह (समुद्रपान उनके) अत्यधिक विकसित (भीतर के) तेज के बिना असम्भव होता । आश्चर्य है तेजस्वियों के भीतर स्थित तेज उपस्थित होता हुआ भी अनुपस्थित सा (दीखता है) अर्थात् बाह्य रूप से तेजस्वी दिखाई देने वाला सूर्य समुद्र को नहीं सुखा पाता परन्तु अन्तर्निहित तेज से युक्त अगस्त्य मुनि के लिए यह सम्भव हो सका था ।

यहाँ अगस्त्य ऋषि के समुद्रपान रूप विशेष अर्थ का ओजस्वियों के भीतर विद्यमान तेज रूप सामान्य वचन से समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास तथा सदप्यसदिव में सम्भावना होने से उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

ग्रावाणोऽत्र विभूषणं त्रिजगतो मर्यादया स्थीयते
नन्वत्रैव विधुः स्थितो हि विबुधाः सम्भूय पूर्णाशिषः ।

शेते चोद्गतनाभिपद्मविलसद्ब्रह्मेह देवः स्वयं
दैवादेति जडः स्वकुक्षिभृतये सोऽप्यम्बुधिर्निम्नताम् ॥८९॥

अत्र (अम्बुधौ) ग्रावाणः (सन्ति अयं) त्रिजगतः विभूषणम्, (अनेन) मर्यादया स्थीयते। विधुः अत्र एव ननु स्थितः। (अत्र) विबुधाः हि सम्भूय पूर्णाशिषः (अभूवन् अपि च) इह स्वयं देवः उद्गतनाभिपद्मविलसद्ब्रह्मा शेते। दैवात् एव स जडः अम्बुधिः अपि स्वकुक्षिभृतये निम्नताम् एति।

गुणवानपि सुजनो दारिद्र्यदोषवशेन कदाचित् नीचकृत्ये प्रसज्जतीत्याह—ग्रावाण इति। अत्राम्बुधौ ग्रावाणः पाषाणाः रत्नानीति यावत्। त्रिजगतो लोकत्रयस्य। पात्रादित्वात् ङीबभावः। विभूषणमलङ्कारो भवति। येन अम्बुधिना लोकस्य मर्यादया स्थीयते। लोकस्यावधीभूतस्य—तिष्ठतीत्यर्थः। तिष्ठते र्भावे लट्। अत्र एव विधुश्चन्द्रः। अत्रैवाम्बुधौ स्थितः तिष्ठति। मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्चेत्यत्र चकाराद् वर्तमाने क्तप्रत्ययः। अत्राम्बुधौ विबुधाः देवाः। अन्यत्र विद्वांसश्च। ज्ञातृवाग्मिसुरा बुधा इत्यमरः। सम्भूय सङ्घीभूय पूर्णाशिषः पूर्णाः समृद्धाः आशिषः अमृतलाभादिरूपा मनोरथा येषां ते तथोक्ताः। अभूवन्। किञ्च। इहाम्बुधौ नाभिपद्मविलसद्ब्रह्मा नाभिपद्मे विलसन् विराजमानो ब्रह्मा चतुर्मुखो यस्य स तथोक्तः। देवो विष्णुः। स्वयं शेते अनन्यप्रेरितः स्वपिति। एवं बहुगुणाढ्योऽपि जडः अज्ञप्रकृतिः। डलयोरभेदाज्जलरूपी च। स तथाविधो अम्बुधिः समुद्रोऽपि स्वकुक्षिभृतये स्वोदरपूरणाय दैवात् अदृष्टवशात् निम्नतां गर्तप्रदेशवर्तितां गम्भीरतां चैति प्राप्नोति। अदृष्टं केनापि दुर्निवारमित्यर्थः।

इस (समुद्र) में बड़े बड़े पत्थर (हैं)। (यह) तीनों लोकों का भूषण (है), (यह) मर्यादा में ठहरा रहता है, निश्चय से यहीं चन्द्रमा ठहरा रहता है। यहीं देवता लोग इकट्ठे होकर पूर्णकाम (मनोरथ पूरे करने वाले) होते हैं। यहीं विष्णु स्वयं सोते हैं जिनकी नाभि से निकले कमल में ब्रह्मा का वास है। भाग्यदोष से वह शीतल समुद्र भी अपना पेट भरने को नीचाई को प्राप्त होता है। नाभि में उत्पन्न कमल में शोभायमान ब्रह्मा से संवलित स्वयं विष्णु भगवान् सोते हैं। दौर्भाग्य के कारण वह शीतल (महान्) समुद्र भी अपने पेट को भरने के लिए नीचाई को प्राप्त होता है।

यहाँ समुद्र का उत्कर्ष बताने के लिए ग्रावाणोऽत्र विभूषणम् एक ही कारण पर्याप्त है परन्तु अन्य त्रिजगतः विभूषणम् आदि अनेक कारण खलेकपोतन्याय

से उत्कर्ष की सूचना दे रहे हैं इस कारण यहाँ समुच्चय अलङ्कार है। अप्रस्तुत वाच्य अम्बुधि वृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य गुणवान् और सुजन होते हुए भी दुर्दशा को प्राप्त व्यक्ति के वृत्तान्त की प्रतीति होने से यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार भी है।

अनीर्ष्या श्रोतारो मम वचसि चेद् वच्मि तदहं
स्वपक्षाद् भेतव्यं न तु बहु विपक्षात् प्रभवतः।
तमस्याक्रान्ताशे कियदपि हि तेजोऽवयविनः
स्वशक्त्या भान्त्येते दिवसकृति सत्येव न पुनः ॥९०॥

हे श्रोतारः! मम वचसि (भवतां) अनीर्ष्या चेत् तत् अहं वच्मि। स्वपक्षात् (एव) भेतव्यम् न तु प्रभवतः विपक्षात् बहु (भेतव्यम्)। तमसि हि आक्रान्ताशे (सति) एते तेजोऽवयविनः (नक्षत्रादयः) स्वशक्त्या कियदपि भान्ति न पुनः दिवसकृति सति (भान्ति)।

बाह्यजातीयकृतादपि भयादाभ्यन्तरं स्वजातीयकृतं भयं बलवदित्याह—अनीर्ष्या श्रोतार इति। हे श्रोतारः आकर्णयितारः जनाः। मम वचसि मद्वाक्ये अनीर्ष्या अनसूया चेत् तर्ह्यहं वच्मि वक्ष्यामि। वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वेति भविष्यदर्थे लट्। किं तदित्यत आह—सपक्षात् सजातीयजनसकाशात् भेतव्यम् उद्विजितव्यम्। ञिभी भय इत्यस्मात्तव्यप्रत्ययः। प्रबलायमानाद्विपक्षाद् विजातीयाच्छत्रुजनाद् बहु भूयिष्ठं न भेतव्यम्। तदेवोपपादयति। एते गगनतलवर्तिनः, तेजोऽवयविनः नक्षत्रादयः। तमस्यन्धकारे आक्रान्ताशे व्याप्तसकलदिशे सति स्वशक्त्या स्वतेजसोऽनुगुणत्वेन कियदपि स्वल्पमपि भान्ति प्रकाशन्ते। पुनरनन्तरं दिवसकृति सूर्ये सति अभ्युदिते न भान्ति न प्रकाशन्ते। तस्मात् परकीयाद् भयादपि स्वकीयभयं बलवदिति भावः। तत्र तमःसूर्ययोः सन्निधाने नक्षत्राणां प्रकाशाख्येन सामान्येनार्थेन शत्रुजनादप्यात्मीयजनस्य दुःसहतेजोहानिहेतुत्वकथनाख्यस्य विशेषस्य समर्थनात् सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। तदुक्तम्—सामान्यविशेषभावेन कार्यकारणभाव एव निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तरन्यास इति।

हे श्रोतागण! यदि मेरे वचन के विषय में (आप लोगों का) विद्वेषभाव नहीं है अर्थात् मेरी बात से यदि आप लोग बुरा न मनायें तो मैं (अपनी) बात कहता हूँ। अपने पक्ष (के लोगों) से (ही) डरना चाहिए न कि प्रभाव-

शाली दूसरे पक्ष (के लोगों) से बहुत (डरना चाहिए) क्योंकि अन्धकार के दिशाओं में भर जाने पर ये तेज के पुञ्ज नक्षत्रादि अपने सामर्थ्य के अनुसार थोड़े-बहुत भी चमक लेते हैं न कि फिर सूर्य के आने पर (उतना भी) चमक पाते हैं।

यहाँ अपने पक्ष से डरना चाहिए न कि विपक्ष से—इस सामान्य वचन का—नक्षत्रादि अन्धकार में तो चमक लेते है परन्तु सजातीय सूर्य के होते हुए नहीं चमकते—इस विशेष वचन से समर्थन किया गया है अतः यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है। अप्रस्तुत वाच्य सूर्य नक्षत्र वृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य सजातीय भयदायक बन्धुओं के वृत्तान्त की प्रतीति होने से यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार भी है।

एतत्तस्य मुखात् कियत्कमलिनीपत्रे कणं वारिणो
यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन्यदस्मादपि ।
अङ्गुल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनैः
कुत्रोड्डीय गतो ममेत्यनुदिनं निद्राति नान्तःशुचा ॥९१॥

स जडः कमलिनीपत्रे वारिणः कणं यत् मुक्तामणिः इति अमंस्त एतत् तस्य मुखात् कियत्। अस्मात् अन्यत् अपि शृणु। (वारिकणे) शनैः आदीयमाने अङ्गुल्यग्रलघुक्रिया प्रविलयिनि सति मम (मणिः) कुत्र उड्डीय गतः इति अनुदिनम् अन्तःशुचा न निद्राति।

अज्ञोक्तं समीचीनमिति यो मन्यते स एवाज्ञ इत्याह – एतत्तस्येति । यः कमलिनीपत्रे नलिनीदले स्थितं पाथसो जलस्य कणं बिन्दुं मुक्तामणिरित्यमंस्त मौक्तिकं मन्यते स्म । मन ज्ञान इत्यस्मात्कर्तरि लुङ् । मुक्तामणिरित्यत्रेतिशब्देन निपातेन मुक्तामणेरभिहितत्वादनभिहित इति द्वितीया न भवति। यदाह-वामनः—निपातेनाप्यभिहिते न कर्मणि कर्मविभक्तिः । परिगणनस्य प्रायिकत्वादिति । स समन्ताज्जडः अज्ञ एव । तस्य जडस्य मुखात् सकाशात् कियत् स्वल्पं यदेतन्मौक्तिकायतनं शृण्वन्नपि पुरुषः । तस्मात्पूर्वस्माज्जनात् जड एव भवति । तदेवोपपादयति । ततोऽनन्तरमादीयमाने स्वक्रियमाणे तत्र जललवे अङ्गुल्यग्रलघुक्रियाप्रलयिनि अङ्गुल्यग्रेण या लघुक्रिया मन्दस्पर्शः तया प्रविलयिनि नश्वरे सति ममायं मुक्तामणिरुड्डीय उत्प्लुत्य गतो विनष्ट इति। अन्तश्शुचा मनोदुःखेन हेतुना अनुदिनं प्रतिदिनम्। न निद्राति न स्वपिति। एतदुक्तम्-जललवे मुक्तामणिभ्रान्तिमतो वचने प्रामाण्यबुद्ध्या तज्जिहीर्षुस्तदपायेन संताप-

माप्नुवन् जडतम इत्युक्त इति ।

कमलिनी के पत्ते पर स्थित पानी की बूँद को उस मूर्ख ने मोती समझ लिया । यह तो उसके मुख से बहुत छोटी-सी (मूर्खता की) बात है । इससे भी बड़ी मूर्खता की यह बात सुनो कि अंगुली के अगले भाग से धीरे से छू लेने से उसके लुप्त होने पर (अर्थात् अंगुली में लगकर के ही उसके सूख जाने के कारण) मेरा मुक्तामणि उड़कर कहाँ चला गया इस आन्तरिक शोक के कारण प्रतिदिन सो नहीं पाता है ।

यहाँ अप्रस्तुत वाच्य जड व्यक्ति के वृत्तान्त से परप्रत्ययनेयबुद्धि अर्थात् दूसरों की बात को बिना समझे ठीक मानकर चलने वाले प्रस्तुत मूर्ख व्यक्तियों की व्यञ्जना से प्रतीति हो रही है अतः यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है । जललव में मुक्तामणि की भ्रान्ति होने से यहाँ भ्रान्तिमान् अलङ्कार भी है ।

आस्तेऽत्रैव सरस्यहो बत कियान् सन्तोषपक्षग्रहो
हंसस्यास्य मनाङ् न धावति मनः श्रीधाम्नि पद्मे क्वचित् ।
सुप्तोऽद्यापि न बुध्यते तदितरांस्तावत्प्रतीक्षामहे ।
वेलामित्युदरम्प्रिया मधुलिहः सोढुं क्षणं न क्षमाः ।।९२।।

(असौ) अत्र सरसि एव आस्ते । बत ! कियान् सन्तोषपक्षग्रहः ! अस्य हंसस्य मनः क्वचित् श्रीधाम्नि पद्मे मनाक् न धावति (किन्तु) सुप्तः अद्य अपि न बुध्यते तत् तावत् इतरान् प्रतीक्षामहे इति (विचार्य) उदरम्प्रियाः मधुलिहः क्षणं वेलां सोढुं न क्षमाः (सन्ति) ।

निस्पृहः न समीपस्थमपि दातारं सेवते लुब्धस्तु दूरादागत्यापि सेवत इत्याह—आस्तेऽत्रैवेति । स प्रसिद्धो हंसो मरालः । अत्रैव सरसि कासारे आस्ते तिष्ठति नान्यत्रेत्येवकारार्थः । अहो आश्चर्यम् । अस्य हंसस्य मतिर्बुद्धिः श्रियो लक्ष्म्याः धाम्नि निवासभूते पद्मे सरसिजे । क्वचित् कदाचित् मनागीषदपि न धावति न प्रसरति । तस्मात् सन्तोषपक्षः सन्तोषोऽलं बुद्धिः । स एव पक्षो बलम् । पक्षः पार्श्वगरुत्साध्यसहायबलभित्तिषु इत्यमरः । कियान् प्रभूत इत्यर्थः । बत बतशब्दोऽत्र विस्मये । हंसो हि विशुद्धस्थानस्थितत्वात् सन्तुष्टत्वाच्च मान्यमुपयातीत्यर्थः । उदरम्प्रियाः कुक्षिम्भरयः । मधुलिहो भ्रमराः । दुष्टा अपि प्रतीयन्ते । अयं पद्मः सुप्तो मुकुलितः अन्यत्र निद्रित इत्यर्थः । अद्यापीदानीमपि

न बुध्यते न विकसति । अन्यत्र न निद्रां जहातीत्यर्थः । बुध्यतेर्दैवादिकत्वात् कर्तरि लट् । तस्मात् कारणात् । इतरानन्यतरांल्लोभात् । प्रबोधकालं तावत्सा-कल्येन प्रतीक्षामहे द्रक्ष्यामह इति क्षणं व्यापाराभावेनावस्थानं तितिक्षितुं क्षमाः शक्ता न भवन्ति । निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः इत्यमरः। पद्मप्रबोधपर्यन्तं पुष्पान्तरेष्वासज्जतीत्यर्थः एतदुक्तं भवति । नैस्पृह्यबलेनान्येन सेवन्ते इतरे तु लोभातिशयेन खलानपि नैरन्तर्येण सेवन्त इति ।

(वह) यहीं सरोवर में ही रहता है । अरे आश्चर्य है ! कितना (अधिक इस हंस ने) सन्तोषबल अपनाया हुआ है । इस हंस का मन कहीं लक्ष्मी के निवासस्थान कमल (तक) की ओर नहीं भागता है । (किन्तु) सोया हुआ यह कमल अभी नहीं जाग रहा है अर्थात् नहीं खिला है तो तब तक दूसरों की ओर देख लेते हैं—ऐसा (सोचकर) ये पेट के प्यारे (पेटू) भँवरे क्षण भर की देरी को भी सहन करने में असमर्थ हैं ।

यहाँ श्रीधाम्नि, सुप्तः एवं मधुलिहः पदों में श्लेष है । अप्रस्तुत वाच्य हंस-मधुप वृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य निःस्पृह तथा लोभी व्यक्ति के वृत्तान्त की व्यञ्जना से प्रतीति हुई है अतः यहाँ श्लेषानुप्राणित अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है।

भेकेन क्वणता सरोषपरुषं यत्कृष्णसर्पानने,
दातुं गण्डचपेटमुज्झितभिया हस्तः समुल्लासितः ।
यच्चाधोमुखमक्षिणी पिदधता नागेन तत्र स्थितं
तत्सर्वं विषमन्त्रिणो भगवतः कस्यापि लीलायितम् ।।९३।।

उज्झितभिया सरोषपरुषं क्वणता भेकेन कृष्णसर्पानने यत् गण्ड-चपेटं दातुं हस्तः समुल्लासितः, यच्च अक्षिणी पिदधता नागेन तत्र अधोमुखं स्थितम्, तत् सर्वं कस्य अपि भगवतः विषमन्त्रिणः लीलायितम् ।

यो महदपि कार्यं स्वल्पेनैव साधनेन साधयति स एव बलीयानित्याह—भेकेनेति । उज्झितभिया गारुडिकबलात् त्यक्तभयेन । अत एव सरोषपरुषं सकोपम् अत एव निष्ठुरं च यथा तथा क्वणता ध्वनता भेकेन मण्डूकेन प्रयोज्येन

कृष्णसर्पस्य कृष्णोरगस्य आनने मुखे कर्णयोश्चपेटं ताडनं दातुं कृष्णसर्पान् ताडयितुम् इत्यर्थः। हस्तः करः समुल्लासितः समुत्क्षेपित इति यावत्। नागेन पन्नगेन सर्पेण इति यावत्। नागः पन्नगमातङ्गक्रूराचारेषुतोयदा इति विश्वप्रकाशः। तत्र गिरि गह्वरादौ। अक्षिणी चक्षुषी पिदधता निमीलता सता अधोमुखमाकुंचितम् आननं यथा तथा स्थितं स्थीयते स्म इति यावत्। स्थितमिति तिष्ठतेर्भावे क्तप्रत्ययः। तदेतत्सर्वं भगवतो अवार्यवीर्यस्य कस्यापि विषमन्त्रिणो गारुडिकस्य लीलायितं विलसितम्। बलिनो न किमप्यशक्यमस्तीति भावः। यदा यो राजात्यल्पेन महतोऽभिभवं कारयति तदास्यावसरः।

निडर होकर क्रोधपूर्वक कर्कश आवाज़ करते हुए मेंढक ने जो काले साँप के मुँह पर गण्डचपेट (गालों के ऊपर चाँटा) लगाने के लिए अपना हाथ उठा लिया और जो (वह) नाग वहाँ आँखें बन्द करते हुए मुँह नीचा करके बैठा रहा वह सब किसी तेजस्वी (शक्तिशाली) विषमन्त्र के जानकार (विषवैद्य) का खेला हुआ खेल है।

यहाँ अप्रस्तुत वाच्य मेंढक और सर्प के वृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य बड़े स्वामी का संरक्षण पाये हुए क्षुद्र सेवक द्वारा अभिभवप्राप्त मनस्वी पुरुष के वृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा है।

मृत्योरास्यमिवाततं धनुरिदं चाशीविषाभाः शराः
शिक्षा सापि जितार्जुनप्रभृतिका सर्वत्र निम्ना गतिः।
अन्तः क्रौर्यमहो शठस्य मधुरं हा हारि गेयं मुखे
व्याधस्यास्य यथा भविष्यति तथा मन्ये वनं निर्मृगम् ॥६४॥

अहो! यथा अस्य शठस्य व्याधस्य मृत्योः आततम् आस्यम् इव (आततम्) इदं धनुः, आशीविषाभाः च शराः, जितार्जुनप्रभृतिका सा शिक्षा अपि, सर्वत्र निम्ना गतिः, अन्तः क्रौर्यं, मुखे (च) हारि गेयम् (विद्यन्ते)। हा तथा मन्ये इदं वनं निमृगं भविष्यति।

बहिरापतितमधुरवचनोऽपि खलोऽन्तःकाठिन्येन स्वजनानपि निहन्तीत्याह —मृत्योरास्यमिवेति। शठस्य वक्रिणः। निकृतस्त्वनृजुश्शठ इत्यमरः। व्याधस्य मृगयोः स आततमारोपितज्यमिदं धनुः कार्मुकं मृत्योर्यमस्यास्यं मुखमिव भयावहं भवति। इमे इषवो बाणा न भवन्ति आशीविषाः सर्पाः। सा तथाविधा शिक्षा धनुर्विद्याभ्यासस्तु विजितार्जुबप्रभृतिका विजिता अर्जुनप्रभृतयो

धनञ्जयप्रमुखा यस्याः सा तथोक्ता। बहुव्रीहेः शेषाद्विभाषेति कप्रत्ययः। प्रभृतिशब्देनात्र कर्णादयो गृह्यन्ते। स्थितिर्मालीढादिरूपो धन्विनामवस्थानविशेषः। सर्वत्र तत्तत्स्वरूपेषु निम्ना गभीरा निश्चलेत्यर्थः। अथवा गतिरिति पाठः। तत्र गतिः संचारः। निम्ना अन्तर्हिता व्याधाः खल्वटव्यादिषु संचरन्तीति किंचान्तर्मनसि क्रौर्यं हिंस्रत्वं वर्तते। मुखे मधुरं श्राव्यं हारि हृद्यम्। गेयं गीतम्। यथा येन प्रकारेण वर्तते तथा तेनैव प्रकारेण वनमरण्यं निर्मृगं मृगशून्यं भविष्यतीति मन्ये तर्कयामि। हा शब्दो विषादे। अहो आश्चर्यम्। अत्राधिज्यधनुर्धारणादिना विशिष्टेन कारणेन मृगहननाख्यं कार्यमनुमीयत इत्यनुमानालंकारः।

ओहो! बड़े आश्चर्य की बात है। क्योंकि इस कुटिल शिकारी का मौत के फैले हुए मुख के समान चढ़ी हुई डोरी वाला यह धनुष है और ज़हरीले सांपों के समान (विषाक्त) बाण हैं तथा अर्जुन आदि को मात करने वाली (धनुर्विद्या की) वह शिक्षा भी है, सब जगह नीचे (झुककर चलने वाली) चाल है, भीतर क्रूरता (भरी) है (और) मुख में मनोहर गीत (है)। हाय! इस (सब) से मुझे ऐसा लग रहा है कि (यह) जंगल पशुओं से रहित हो जायेगा।

यहाँ वन को पशुओं से रहित करने के लिए व्याध के धनुष बाण पर्याप्त कारण हैं किन्तु उनकी सहायता के लिए अन्य अनेक कारणों के उपस्थित हो जाने से यहाँ समुच्चय अलङ्कार है। यहाँ निर्मृग वन रूपी साध्य के लिए धनुष और बाणादि साधन उपस्थित हुए हैं अतः अनुमानालङ्कार है। मन्ये वनं निर्मृगम् में मन्ये शब्द तथा धनुरादि हेतुओं के प्रयोग से हेतूत्प्रेक्षा है। अप्रस्तुत वाच्य व्याध और वन के वृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य बाहर से मधुर किन्तु भीतर से कठोर दुष्टों से सताये जाने वाले सज्जन के वृत्तान्त की प्रतीति होने से यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा भी है। आशीविषाभाः में वाचकलुप्ता उपमा है।

कोऽयं भ्रान्तिप्रकारस्तव पवन पदं लोकपादाहतीनां
तेजस्विव्रातसेव्ये नभसि नयसि यत्पांसुपूरं प्रतिष्ठाम्।
यस्मिन्नुत्थाप्यमाने जननयनपथोपद्रवस्तावदास्तां
केनोपायेन साध्यो वपुषि कलुषतादोष एष त्वयैव ॥९५॥

(रे) पवन! तव अयं कः भ्रान्तिप्रकारः? यत् (त्वम्) लोकपादाहतीनां पदं पांसुपूरं तेजस्विव्रातसेव्ये नभसि प्रतिष्ठां नयसि। यस्मिन् उत्थाप्यमाने जननयनपथोपद्रवः तावत् आस्ताम् (किन्तु) वपुषि एष कलुषतादोषः त्वया एव केन उपायेन साध्यः (स्यात्)।

दुष्टस्य वर्धनेनात्मनः परेषां च महत्यापत्तिरापतेदित्याह —कोऽयमिति । हे पवन वायो ! तेजस्विव्रातसेव्ये तेजस्विनां निकरेण सूर्यादिना सेव्ये सदाश्रयणीये नभसि गगनमार्गे अनेन पदद्वयेन महाप्रभुसमुचितमुन्नतं राज्यादिपदं प्रतीयते । लोकपादाहतीनां कृत्स्नस्य प्राणिवर्गस्य पादाहतीनां चरणाभिघातानां पदं स्थानं पात्रमिति यावत् पांसुपूरं रजोनिकरं प्रतिष्ठामास्पदं स्थानं नयसि प्रापयसि नयतेर्गत्यर्थत्वाद्विकर्मकत्वम् । पांसुपूर इत्यनेन[1]तुच्छजनः प्रतीयते । तवायं परिदृश्यमानः भ्रान्तिप्रकारो भ्रान्ते विपर्ययज्ञानस्य प्रकारो विशेषः कः कीदृशः सर्वातिशायीत्यर्थः । सामान्यस्य भेदको विशेषः प्रकार इति वृत्तिकारः । तर्ह्यनेन किं जातमित्यत आह—यस्मिन् पांसुपूरे । त्वयैव भवतैव नान्येनेत्यर्थः । उत्थाप्यमाने उन्नतिं नीयमाने सति । जननयनपथोपद्रवः जनस्य प्राणिवर्गस्य नयनपथश्चक्षुर्मार्गः । तस्योपद्रवः क्लेशः । तावदास्तां साकल्येन तिष्ठतु । आसेः कर्तरि लोट् । वपुषि सकलप्राणिशरीरे । एष परिदृश्यमानः कलुषतादोषः कलुषता मालिन्यं सैव दोषः । केनोपायेन शक्यः सोढुं शक्यो भवेत् । न केनापीत्यर्थः । एष त्वयेत्यत्र एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि इति सुलोपः । दुष्टस्तावत्केनचिदुन्नतिं नीयमान एवादावभिचारेण जनस्य चक्षूंषि प्रतिबध्य ततः सर्वाङ्गेषु व्याधिमुत्पादयतीति भावः ।

(अरी) वायु ! तेरी यह कैसी अज्ञान भरी रीत है जो (तुम) लोगों के पैरों के आघातों (से कुचले जाने) के पात्र धूलिसमूह को देदीप्यमान (सूर्यादि) ग्रहों के समूह के द्वारा सेवन करने (अर्थात् आश्रय लेने) योग्य आकाश में ले जा रही हो । जिसके उठाये जाने पर (समस्त) प्राणिवर्ग के चक्षुर्मार्ग (अर्थात् आँखों में धूल भर जाने के) क्लेश का उत्पात तो (भले ही) रहे (इसकी हमें परवाह नहीं है किन्तु तुम्हारे) शरीर पर विद्यमान यह कालिख (पोतने) का दोष किस उपाय से साध्य (हटाये जाने योग्य अथवा सहने योग्य) हो पायेगा ? (अर्थात् न तो हटाया जा सकेगा और न ही सहा जायेगा ।)

यहाँ अप्रस्तुत वाच्य नेत्रों के लिए कष्टकारक पवन वृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य दूसरों को पीडा पहुँचाने वाले किन्तु स्वयं भी बदनाम और अशान्त रहने वाले व्यक्ति के वृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है ।

एते ते विजिगीषवो नृपगृहद्वारार्पितावेक्षणाः
क्षिप्यन्ते वसुयाचनाहितधियः कोपोद्धतैर्वेत्रिभिः ।
अर्थेभ्यो विषयोपभोगविरसैर्नाकारि यैरादर-
स्ते तिष्ठन्ति मनस्विनः सुरसरित्तीरे मनोहारिणि ॥९६॥

एते (ये) वसुयाचनाहितधियः विजिगीषवः नृपगृहद्वारार्पितावेक्षणाः (सन्ति) ते कोपोद्धतैः वेत्रिभिः क्षिप्यन्ते (किन्तु) विषयोपभोगविरसैः यैः अर्थेभ्यः आदरः न अकारि ते मनस्विनः मनोहारिणि सुरसरित्तीरे तिष्ठन्ति ।

ये सस्पृहास्ते लोकद्वये दुःखमेवानुभवन्ति । निस्पृहा उभयत्रापि सुखमेवेत्याह —एते त इति । वसुयाचनाहितधियः वसुनो धनस्य याचनमभ्यर्थनं तयाहिता विन्यस्ता धीर्बुद्धिर्येषां ते तथोक्ताः । प्रवेशे अहंपूर्वतया द्वारदेशे निष्पन्दमाना इत्यर्थः । एते परिदृश्यमानास्ते तथोक्ताः । विजेतुमिच्छवो विजिगीषवः । रागिण इत्यर्थः । कोपोत्थितैः कोपेन प्रसह्य सम्भूतेन रोषेण हेतुना उत्थितैः । ताडनानि चिकीर्षुभिरित्यर्थः । वेत्रिभि र्वेत्रधारिभिः । दौवारिकैरिति यावत् । क्षिप्यन्ते अपसार्यन्ते । क्षिपतेः कर्मणि लट् । विरक्तास्तु नैवमित्याह—विषयोपभोगविरसैः विषयाणां शब्दादीनाम् उपभोगे अनुभोगे विरसैः अनिच्छुभिर्यैर्महात्मभिः कर्तृभिः । अर्थेभ्यो धनेभ्यः । आदानमभिलाषो नाकारि न कृतः । करोतेः कर्मणि लुङ् । च्लेश्चिणादेशः । मनस्विनो मानिनस्ते पुरुषाः । मनोहारिणि हृद्यतमे । सुरसरित्तीरे सुरसरितो भागीरथ्यास्तीरे तटे काश्यादौ तिष्ठन्ति मुक्तये निवसन्ति । भूसारत्वं काश्यामिति भावः ।

असारभूते संसारे सारमेतच्चतुष्टयम् ।
काशीवासः सतां सङ्गो गङ्गाम्भः शम्भुपूजनम् ।। इति ।

ये (जो) धन को भोगने में ही अपनी बुद्धि लगाने वाले, (प्रतिस्पर्धा के कारण) विजयाभिलाषी और राजा के महल के दरवाज़े पर दृष्टि गड़ाने वाले (सांसारिक लोभी) मनुष्य (हैं) वे क्रोध (के आवेश के कारण) उद्दण्ड बेंतधारी द्वारपालों से परे धकेले जा रहे हैं (परन्तु) भोगों के भोगने में समाप्त रुचि वाले जिन (वीतराग) पुरुषों ने धनों के प्रति सम्मान (आसक्ति) नहीं किया वे प्रशस्त मनों वाले (महात्मा) लोग देवनदी गङ्गा सुरम्य तीर पर बैठे हैं ।

यहाँ सांसारिक विषयों में फंसे भोगी मनुष्यों तथा वीतराग मुनियों के जीवन की वाच्य वस्तु से निःस्पृह व्यक्तियों का जीवन ही स्तुत्य है इस व्यङ्ग्य वस्तु की प्रतीति हो रही है । इस प्रकार यहाँ पर्यवसान में शान्त रस का अनुभव होता है ।

वाता वान्तु कदम्बरेणुशबला नृत्यन्तु सर्पद्विषः
सोत्साहा नवतोयभारगुरवो मुञ्चन्तु नादं घनाः ।

मग्नां कान्तवियोगदुःखदहने मां वीक्ष्य दीनाननां
विद्युत् ! किं स्फुरसि त्वमप्यकरुणे स्त्रीत्वेऽपि तुल्ये सति ॥९७॥

कदम्बरेणुशबलाः वाताः वान्तु, सर्पद्विषः नृत्यन्तु, नवतोयभारगुरवः सोत्साहाः घनाः नादं मुञ्चन्तु। (परन्तु हे) अकरुणे विद्युत् ! कान्तवियोगदुःखदहने मग्नां दीनाननां मां वीक्ष्य स्त्रीत्वे तुल्ये सति अपि त्वम् अपि किं स्फुरसि ?

विजातीयकृतः क्लेशो भूयानपि क्षम्यते न सजातीयकृतः क्लेशः स्वल्पोऽपीत्याह—वाता वान्त्विति। कदम्बरेणुशबलाः कदम्बरेणुना नीपपुष्पपरागेण शबला धूसराः। वाता वायवो वान्तु सञ्चरन्तु। वातेरदादित्वाल्लोट्। वर्षासु खलु कदम्बः पुष्पितो भवति। सर्पद्विषो मयूराः सोत्साहाः मेघोदयदर्शनेन हर्षिता नृत्यन्तु नर्तनं कुर्वन्तु। नवतोयभारगुरवः नवेन वार्षिकत्वान्नूतनेन तोयभारेण जलनिवहेन गुरवो निश्चला घनाः जलदाश्च नादं मुञ्चन्तु गर्जन्त्वित्यर्थः। वातादीनां तुल्यपुरुषत्वेन प्रातिकूल्याचरणमुचितमित्यर्थः। विद्युच्चञ्चले कान्तवियोगदुःखगहने कान्तेन वल्लभेन सह वियोगो विश्लेषस्तेन यद्दुःखं तदेव गहनं सङ्कटम्, अरण्यं वा तत्र मग्नां प्रविष्टाम् अतएव दीनाननां म्लानमुखीं तां वीक्ष्य। उभयोः स्त्रीत्वे स्त्रीभावे तुल्ये साधारणे सत्यपि त्वमप्यकरुणा कृपाविहीना सती किं किमर्थं प्रस्फुरसि प्रकर्षेण विलससि। स्त्रीत्वाद् विद्युतः स्फुरणमनुचितमित्यर्थः। सजातीयया हितैषिण्या भवितव्यत्वादिति भावः। यदाह भारविः—बद्धकोपविकृतीरपि रामाश्चारुताभिरमतामुपनिन्ये। पश्यतां मधुमतां दयितानामात्मवर्गहितमिच्छति सर्वः।

कदम्ब के पराग से मिले हुए पवन (भले ही) चलें, साँपों के शत्रु मोर नाचें और नये जल के भार से भारी भरकम उत्साही बादल (भी) गर्जन करें (परन्तु हे) निर्दय बिजली ! (अपने) प्रियतम के वियोग की दुःखाग्नि में जलती हुई म्लानमुखी मुझे देखकर समान नारीरूप होने पर तुम भी क्यों चमक रही हो ? (तुम्हारा यह चमककर मुझे चिढ़ाना अनुचित है।)

यहाँ स्फुरण के अनौचित्य में विद्युत् का स्त्रीत्व कारण है। अतः यहाँ काव्यलिङ्ग है। विरहिणी नायिका के द्वारा अचेतन विद्युत् पर चेतन नायिका तथा वातादि पर नायक के व्यवहार का आरोप होने के कारण समासोक्ति अलङ्कार है। अप्रस्तुत वाच्य नायिका तथा विद्युत् के वृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य सजातीय कष्टदाता व्यक्ति के वृत्तान्त की प्रतीति होने से यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा भी है।

प्राणा येन समर्पितास्तव बलाद् येनैवमुत्थापित:
स्कन्धे येन चिरं धृतोऽसि विदधे यस्ते सपर्यामपि ।
तस्यान्त: स्मितमात्रकेण जनयञ्जीवापहारं क्षणाद्
भ्रात: प्रत्युपकारिणां धुरि परं वेताललीलायसे ॥६८॥

(हे) भ्रात: । येन तव प्राणा: समर्पिता:, येन एवं बलात् (त्वम्) उत्थापित:, येन (त्वम्) चिरं स्कन्धे धृत: असि, य: ते सपर्याम् अपि विदधे । अन्त: स्मितमात्रकेण उपलक्षित: त्वं तस्य क्षणात् जीवापहारं जनयन् प्रत्युपकारिणां धुरि परं वेताललीलायसे ।

नीचा: खलूपकर्तुरेवापकुर्वन्तीत्याह—प्राणा येनेति । हे भ्रात: सोदर ! भ्रातरिति सोल्लुण्ठनं वचनम् । येन सुजनेन प्राणास्तव समर्पिता: । तुभ्यं प्रदत्ता इत्यर्थ: । तवेति सम्बोधनमात्रे षष्ठी । येन त्वं बलात् प्राबल्याद् धेतो: । उत्थापित: आपद्भ्य उद्धृतोऽसि । येनैवं त्वं चिरं बहु कालं धृतोऽसि अन्नदानप्रदानेन पोषितोऽसि । गतधी र्बुद्धिशून्यस्त्वं सुष्ठु भावमभ्यर्थित: । उन्मार्गे त्वया न वर्तितव्यमिति समीचीनभावं प्रार्थितोऽसि । एवं बहूपकारिणस्तस्य स्मितमात्रकेण स्मितेनैव उपलक्षित: सन् क्षणादल्पेन कालेनैव अन्तर्मनसि जीवापहारं प्राणापहारं जनयन्नुत्पादयन् प्राणापहरणोपायमेव चिन्तयन्नित्यर्थ: । प्रत्युपकारिणां प्रत्युपकारवतां महात्मनां धुर्यग्रे परमत्यर्थं वेताललीलायसे पिशाचलीलामाचरसि । पिशाचा अप्यन्नपानादिदायिनमेव निघ्नन्ति तद्वत्त्वमपि रक्षितारमपि निहंसीत्यर्थ: । तत्करोति तदाचष्ट इति ण्यन्ताल्लट् । णिचश्चेत्यात्मनेपदम् । अथवा वेतालेति भिन्नं पदम् । अथवा वेतालपिशाचसदृश: पिशाच इव विगतविवेकत्वेन पुरुषोऽपि पिशाच इति उच्यते । लीलां विनोदं करोषि लीलायसे । पर प्राणापहरणमेवासाधूनां विनाभोगोऽधिकार: । सत्यां कर्मविभक्तौ च सप्तमी तत्र सम्मतेति । भोजराजवचनाद् द्वितीयार्थे सप्तमी ।

जिस (उपकारी) ने तुम्हारे भीतर प्राण डाले हैं; जिसने इस भाँति बलपूर्वक तुम्हें (ऊपर) उठाया है और देर तक कन्धे पर (भी) बैठाया है तथा जो तुम्हारा आदर सत्कार भी करता आया है (इस प्रकार) उस (उपकर्ता) के अपने (मन के) भीतर मुस्कराहट से भरे होकर क्षण भर में प्राणापहरण को पैदा करते हुए प्रत्युपकर्ताओं में आगे होकर तुम पिशाचलीला (क्रूरतापूर्ण क्रीडा) की तरह का खेल खेल रहे हो।

यहाँ किसी अपकारी की भर्त्सना की जा रही है। वेताललीलायसे में

व्यङ्लुप्ता वाचकलुप्तोपमा है । वेताललीलायसे से अभिप्राय है कि जैसे वेताल अपने प्रत्युपकारियों का ही नाश करता है वैसे ही तुम भी अपने उपकारी का ही अनिष्ट कर रहे हो ।

तान्त्रिक लोग अपने मन्त्रबल के प्रभाव से शव में जान डाल देते हैं । शव जीवित होकर जब बोलने लगता है तो वह अपने जिलाने वाले तान्त्रिक की ही जान लेने के लिए उतारू हो जाता है । वेताल की इस विशेषता को दृष्टि में रखकर यहाँ यह बताया जा रहा है कि नीच लोग उपकर्ता का ही अपकार करने के लिए उद्यत हो जाते हैं ।

रज्ज्वा दिशः प्रविततताः सलिलं विषेण
खाता मही हुतभुजा ज्वलिता वनान्ताः ।
व्याधाः पदान्यनुसरन्ति गृहीतचापाः
कं देशमाश्रयतु यूथपतिर्मृगाणाम् ॥९९॥

दिशः रज्ज्वा प्रविततताः, सलिलं विषेण (मिश्रितम्) मही खाता, वनान्ताः हुतभुजा ज्वलिताः, पदानि (च) गृहीतचापाः व्याधाः अनुसरन्ति (अधुना) मृगाणां यूथपतिः कं देशम् आश्रयतु ?

अप्रतिविधेयास्वापत्सु युगपत् समन्ततः समागतास्वपि धीरो ह्यन्यत्र जिगामिषुः स्वस्थान एव तिष्ठतीत्याह—रज्ज्वा दिश इति दिशो रज्ज्वा दाम्ना प्रविततताः विस्तारिताः शृङ्खलिता इति यावत् । रज्ज्वेति एकवचनमुपलक्षण-परम् । सलिलं जलमपि विषेणाक्तम् । सम्मिश्रितम् । मही भूमिरपि खाता गर्तादिरूपेण विदारिता । वनान्ताः अन्तशब्दोऽत्र—स्वरूपवचनः । हुतभुजा अग्निना ज्वलिताः दीपिताः दग्धा इति यावत् । व्याधाः किराताः स्वाहितचापाः अधिज्यधनुर्दधानाः सन्तः पदानि मृगपदचिह्नानि अनुसरन्ति अन्विष्यानुधावन्ति । एवं स्थिते मृगाणां यूथपति र्मृगयूथपतिः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः । कृष्णसारादिः कं देशं विषयं निर्बाधमाश्रयति प्राप्स्यति । बाधायाः सार्वत्रि-कत्वान्न किमपीत्यर्थः । महान्तो विपत्स्वपि न धैर्यं परित्यजन्तीति भावः ।

दिशायें रस्सी से व्याप्त हैं (इधर उधर जाल लगे हुए हैं), पानी विष से मिश्रित है, पृथ्वी खोद दी गई है (गड्ढे बने हुए हैं), वनप्रदेश आग से प्रदीप्त है (और) पैरों का अनुसरण धनुषों को धारण करने वाले शिकारी कर रहे हैं (शिकारी पीछा कर रहे हैं । अब) हरिणों के झुण्ड का स्वामी (हरिण) किस स्थान का आश्रय ले ?

यूथपति के प्राणापहरण के लिए एक ही कारण पर्याप्त था। किन्तु अनेक कारणों का समवाय होने से यहां समुच्चय अलङ्कार है। यहाँ अप्रस्तुत वाच्य यूथपति हरिण के वृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य अपने स्थान को छोड़ने में असमर्थ आपत्तिग्रस्त किसी नृपति के वृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है।

अयं वारामेको निलय इति रत्नाकर इति
श्रितोऽस्माभिस्तृष्णातरलितमनोभि र्जलनिधिः।
क एवं जानीते निजकरपुटीकोटरगतं
क्षणादेनं ताम्यत्तिमिनिकर मापास्यति मुनिः ॥१००॥

अयं जलनिधिः वाराम् एकः निलय इति, रत्नाकर इति तृष्णातरलितमनोभिः अस्माभिः श्रितः। क एवं जानीते यत् मुनिः निजकरपुटीकोटरगतं ताम्यत्तिमिरनिकरम् एनं क्षणात् आपास्यति।

असावतीव लुब्धो गुणाढ्यश्चेत्यालोच्य प्रभुसेवनमर्थिव्यापारः किन्तु समासन्ननिधनोऽयमिति न केनापि ज्ञायत इत्याह—अयं वारामेको निलय इति। तृष्णयाऽऽकाङ्क्षया तरलितं चञ्चलीकृतं मनो येषां ते तथोक्ताः। तैरस्माभिरयं समुद्र एक एव वारां जलानां निलयः आश्रयः। यदुक्तम्—आकाशात् पतितं तोयं यथा गच्छति सागरमिति। अनेन सकलजनाश्रय इति ध्वन्यते। इत्यस्माद्धेतो रत्नाकर इति रत्नानां कौस्तुभादीनामाकरः उत्पत्तिस्थानमिति। अनेन सुजनाश्रय इति ध्वन्यते। आकरो निवहोत्पत्तिस्थानश्रेष्ठेषु कथ्यते इति विश्वः। जलनिधिः सागरः श्रितः सेवितः। तदनु निजकरपुटीकोटरगतं निजा स्वकीया करपुटी करतलं सैव कोटरं रन्ध्रं तद्गतं प्राप्तं स तथोक्तः। अत एव ताम्यत्तिमिरनिकरं ताम्यत् संतापमाप्नुवत् तिमिराणां मत्स्यादीनां प्राणिनां निकरः समूहो यस्य स तथोक्तः। अनेन क्लिश्यदाश्रितजन इति ध्वन्यते। तमेनं जलधिं मुनिरगस्त्यः क्षणादेवमनेन प्रकारेण आपास्यति निश्शेषीकरिष्यतीति को वा जानीते वेत्ति। न कोऽपीत्यर्थः।

यह समुद्र जलों का एक आगार है और रत्नों का खज़ाना है, ऐसा सोचकर तृष्णा से व्याकुलमन होकर हमने इसका आश्रय लिया था परन्तु यह कौन जानता था कि अपने हाथ की अञ्जलि की खोह में समाये हुए और तड़फड़ाती हुई बड़ी बड़ी मछलियों के समुदाय वाले इस समुद्र को मुनि अगस्त्य क्षण भर में ही पी लेंगे ?

यहाँ अगस्त्य मुनि के द्वारा समुद्र का पी जाना आपाततः असम्भव प्रतीत होता है। समुद्रपान क्रिया और अगस्त्य दोनों में विरोध है। अतः यहाँ क्रिया के साथ द्रव्य के विरोध वाला विरोधाभास अलङ्कार है। इस विरोध का परिहार यह है कि अपार सामर्थ्य वाले अगस्त्य मुनि के लिए समुद्र का पान करना सम्भव था।

विशालं शाल्मल्या नयनसुभगं वीक्ष्य कुसुमं
शुकस्यासीद् बुद्धिः फलमपि भवेदस्य सदृशम् ।
चिरासीनं तस्मिंश्च फलमपि दैवात् परिणतं
विपाके तूलोऽन्तः सपदि मरुता सोऽप्यपहृतः ॥१०१॥

शाल्मल्याः नयनसुभगं विशालं कुसुमं वीक्ष्य अस्य फलम् अपि (कुसुम) सदृशं भवेत् (इति) शुकस्य बुद्धिः आसीत्। तस्मिन् (तेन) चिरासीनम्, दैवात् च फलम् अपि परिणतम्। (परन्तु) विपाके अन्तः तूलः (सञ्जातः) सः अपि मरुता अपहृतः।

प्रभूतमर्थं दास्यतीति बुद्ध्यार्थी सिषेवे। सोऽपि बहुकालेनासारं किञ्चिद्ददौ। तदपि दुष्टपुरोहितादिभिरपह्रियत इत्येतन्मनसि कृत्वाह— विशालमिति। नयनसुभगं नयनयो र्दृशोः सुभगं रमणीयं विशालं महच्छाल्मल्याःपिच्छिलायाः पिच्छिला पूरणी मोचा स्थिरायुः शाल्मलि र्द्वयोरित्यमरः। कुसुमं वीक्ष्य अस्य कुसुमस्य सदृशमनुगुणं फलमन्यत्र धर्मादिलाभश्च भवेदिति बुद्धिःसमुत्पन्ना सञ्जाता। विशिष्टेन कारणेन कार्यानुमानस्योचितत्वादिति भावः। इत्येवं ध्यात्वा विचार्य उपास्तं सेवितं। उपपूर्वादासे र्भावे क्तः। फलमपि दैवाददृष्टवशातः परिणतं सञ्जातम्। ततो विपाके पक्वावस्थायामन्तः फलाभ्यन्तरे तूलः पिचुरेव सञ्जातः। तूलः पिचौ भवेत्तूलं ब्रह्मदारुविहायसोरिति विश्वप्रकाशः। सोऽपि तूलः सपदि तत्क्षणमेव मरुता वायुना अपहृतः। सत्यामपि दृष्टकारणसामग्र्यायामदृष्टकारणाभावे खलु न कार्यस्योत्पत्तिरिति भावः।

सेमर के वृक्ष के नेत्रों को सुख देने वाले बड़े फूल को देखकर—इसका फल भी (पुष्प) जैसा ही (सुन्दर) होगा (इस प्रकार का) तोते (के मन) के भीतर विचार (उत्पन्न) हुआ। उस (पेड़) पर तोता देर तक (यही आशा रखकर) रहता रहा। और भाग्यवश फल भी पक गया। पकने पर (उसके) भीतर रूई निकली और वह भी वायु ने तुरन्त ही (उड़ाकर) छीन ली।

यहाँ अप्रस्तुत वाच्य शाल्मलि वृक्ष की कुसुमानुरूप फलप्राप्ति में आसक्ति रखने वाले शुक के वृत्तान्त से कंजूस धनी दाता से धन की आशा रखकर भी धन न पाने वाले व्यक्ति के वृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है।

सर्वप्रजाहितकृते पुरुषोत्तमस्य
वासे समस्तविबुधप्रथितेष्टसिद्धौ।
चन्द्रांशुवृन्दविततद्युतिमत्यमुस्मिन्
हे कालकूट तव जन्म कथं पयोधौ ॥१०२॥

हे कालकूट ! सर्वप्रजाहितकृते, पुरुषोत्तमस्य वासे, समस्तविबुधप्रथितेष्टसिद्धौ, चन्द्रांशुवृन्दविततद्युतिमति अमुष्मिन् पयोधौ तव जन्म कथम् (अभूत्) ?

महाकुलप्रभूतं यं कञ्चित्खलपमुपालब्धुमाह—सर्वेति। हे कालकूट महाविष ! खलोऽपि प्रतीयते। सर्वप्रजाहितकरे सकललोकोपकारिणि। मौक्तिकाद्युत्तमवस्तुसद्भावादिति भावः। पुरुषोत्तमस्य विष्णोः सुजनस्य च वासे समाश्रयभूते समस्तविबुधप्रथितेष्टसिद्धौ समस्तानां सर्वेषां विबुधानां देवानां विदुषां च प्रथिता इष्टस्यामृतादेः अभिलषितस्य च सिद्धिः—निर्वृत्तिर्यस्य स तथोक्तः तस्मात् किं चन्द्रांशुवृन्दविततद्युति चन्द्रांशूनां चन्द्रकिरणानां वृन्देन निकरेण वितता विस्तृता या द्युति दीप्ति र्यस्यास्तीति स तथोक्तः। तस्मिन्नमुष्मिन् तथाविधे पयोधौ क्षीरसागरे तवोत्पत्तिः कथमभूत्। न युक्तमित्यर्थः।

हे हालाहल विष ! सारी प्रजा का हित करने वाले, भगवान विष्णु के निवासस्थान, सभी देवताओं के प्रसिद्ध प्रिय (अमृत) का निर्माण करने वाले और चन्द्रकिरणों के समूह की फैली हुई चमक से युक्त इस समुद्र में तुम्हारा जन्म कैसे हुआ ! यहाँ तुम्हारा उत्पन्न होना जंचता नहीं है।

यहाँ अप्रस्तुत वाच्य समुद्र में उत्पन्न होने वाले कालकूटवृत्तान्त से प्रस्तुत उच्च कुल में पैदा होने वाले नीच व्यक्ति के वृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है।

फलितघनविटपविघटित-
पटुदिनकरमहसि लसति कल्पतरौ ।
छायार्थी कः पशुरपि
भवति जरद्वीरुधां प्रणयी ॥१०३॥

फलितघनविटपविघटितपटुदिनकरमहसि कल्पतरौ लसति सति छायार्थी कः पशुः अपि जरद्वीरुधाम् प्रणयी भवति ।

अस्य श्लोकस्य कापि व्याख्या नोपलभ्यते । स्वीया टीकाऽत्र प्रस्तूयते । कश्चित् मूर्खोऽपि याचकः परमोदारं दानिनं परित्यज्य कृपणं न याचते इत्याह—फलिघतनविटपेति । फलितैः फलभारनम्रैःघनैः निविडैः विटपैः शाखाभिः विघटितं नाशितं पटु तीव्रं दिनकरमहः सूर्यतेजः घर्म वा येन स तस्मिन् कल्पतरौ कल्पवृक्षे लसति शोभमाने सति छायार्थी छायाभिलाषी कः पशुः अपि जरद्वीरुधाम् जरल्लतानां प्रणयी प्रेमी भवति ।

फलों से भरी घनी (अपनी) शाखाओं से तीव्र सूर्य के ताप के दूर करने वाले कल्पवृक्ष के शोभित होते हुए कौन पशु भी छाया की चाह करता हुआ जीर्ण शीर्ण लताओं का प्रेमी बनता है ? अर्थात् कल्पतरु को छोड़ कर वह उन लताओं की ओर नहीं दौड़ता है ।

यहां अप्रस्तुत वाच्य पशु कल्पतरु और लता वृत्तान्त से प्रस्तुत व्यङ्ग्य मूर्ख याचक, उदारदानी तथा कृपण धनी के वृत्तान्त की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है ।

परिशिष्ट

भल्लटशतक का प्रस्तुत संस्करण ह प्रतिलिपि (विश्वेश्वरानन्द विश्वबन्धु वैदिक शोध-संस्थान, होशियारपुर) को आधार बनाकर तैयार किया गया है। इस प्रतिलिपि में मूल श्लोक तथा टीका भाग साथ साथ दिया हुआ है। इसकी श्लोकसङ्ख्या ९९ तक श्लोक तथा टीका दोनों है। तदनन्तर १०० से १०५ तक श्लोक के प्रतीक देकर केवल टीका मात्र दी हुई है। इस संस्करण में कुल १०३ श्लोक हैं। सभी प्रतियों में उपलब्ध होने वाले श्लोकों को ही इसमें सम्मिलित किया गया है। [किं दीर्घं (२५) तथा न पङ्कादुद्भूति (२६) इत्यादि कुछ श्लोक ही इसके अपवाद हैं।] इस संस्करण मे जिन श्लोकों को सम्मिलित नहीं किया जा सका है उनकी सूची इस प्रकार है :

(क) 'अ' प्रति (अडयार लाइब्रेरी, अडयार) में अतिरिक्त श्लोक :

१. छायामात्मन एव तां कथमसावन्यस्य कर्तुं क्षमः
ग्रीष्मोऽयं न तु शीतलस्तटभुवि स्पर्शोऽनलादेः कुतः।
वार्ता वर्षशते गते किमफलं भावीति वा नैव वा
धिक् कष्टं मुषिताः कियच्चिरमहो तालेन बाला वयम् ॥४३॥

२. पाषाणजालजटिलोऽपि गिरिं विशाल-
स्तोयस्य नित्यगमनादुपयाति भेदम्।
कर्णेजपैरहरहः प्रतिपाद्यमानः
को वा न याति विकृतिं दृढसौहृदोऽपि ॥१०६॥

३. प्रेङ्खन्मयूख नखशातशिखा विखात-
विख्यातवारणगजस्य हरे र्गुहायाम्।
क्रोष्टा निकृष्टसरमायुतदृष्टनष्ट-
धाष्ट्यैः प्रविष्ट इति कष्टमहोऽद्य दृष्टम् ॥१०३॥

४. भावग्रस्तसमस्तचेतनमनो वैदग्ध्यमुग्धो जनः
कः स्पर्धामधिरोहति त्रिभुवने चित्रं त्वया तन्वता।
भावानां सदसद्विवेककलनाभ्यासेन जीर्णा तनु
र्दूरादेव न नाम येन हृदयं सोढुं कृतं न ग्रहः ॥९९॥

५. रे ध्वाङ्क्ष प्रतिरूक्षता वचसि ते काणाक्षता क्षम्यते
लौल्यं नाम तवैव कात्र गणना दिग्विभ्रमश्चैव ते ।
सर्वं सोढमिदं स्वभावसुलभं वह्नेरिवोष्णं यथा
यस्त्वेवं विनयस्य कापि भवतो ग्रीवाननः सह्यते ॥२३॥

६. हे माणिक्य तदेतदेव हि वरं यद् वा नरेणामुना
अन्तःसारनिरीक्षणव्यसनिना चूर्णीकृतो नाश्मना ।
आघ्रातं परिचुम्बितं प्रति मुहु र्लीढं पुनश्चर्वितं
निक्षिप्तं भुवि नीरसेन मनसा खेदं वृथा मा कृथाः ॥९६॥

(ख) 'क' प्रति (काव्यमाला गुच्छक VI) में अतिरिक्त श्लोक :

१. अन्तः कर्कशता बहिश्च घटना मर्माविधैः कण्टकै-
श्छाया मण्डलसंस्पृशां तनुभृतामुद्वेजिनी संस्थितिः ।
तन्नामास्तु विधेरिदं विलसितं बर्बूरशाखिन् सखे
शाखा ते फलशाखिनामपि वृतिः सम्पत्स्यते भूरुहाम् ॥३५॥

२. एष श्रीमानविरलगुणग्रामणी र्नारिकेल-
च्छाया यस्य प्रभवति चिरं घर्मशान्त्यै जनानाम् ।
तेनाम्भोभिः कतिचन जना वासरांस्तर्पयध्वं
दास्यत्येतच्छतगुणमयं वारि मूर्ध्ना दधानः ॥३६॥

३. ग्रावाणो मणयो हरि र्जलचरो लक्ष्मीः पयोमानुषी
मुक्तौघाः सिकताः प्रवाललतिका शैवालमम्भः सुधा ।
तीरे कल्पमहीरुहाः किमपरं नाम्नापि रत्नाकरो
दूरे कर्णरसायनं निकटतस्तृष्णापि नो शाम्यति ॥५०॥

४. दानार्थिनो मधुकरा यदि कर्णतालै
र्दूरीकृताः करिवरेण मदान्धबुद्ध्या ।
स्वस्यैव गण्डयुगमण्डनहानिरेषा
भृङ्गाः पुनर्विकचपद्मवने चरन्ति ॥१०५॥

५. प्रेङ्खन्मयूखनखशातशिखानिखात-
विख्यातवारणगणस्य हरे र्गुहायाम् ।
क्रोष्टा निकृष्टसरमासुतदृष्टिनष्ट-
धार्ष्ट्यः प्रविष्ट इति कष्टमिहाद्य दृष्टम् ॥१०४॥

६. भावग्रस्तसमस्तचेतनमनो वैदग्ध्यमुग्धो जनः
क: स्पर्धामधिरोहति त्रिभुवने चित्रं त्वया तन्वता ।
भावानां सदसद्विवेककलनाभ्यासेन जीर्णान्तरं
दूरादेव न नाम येन हृदयं वोढुं कुतो दुर्ग्रहः ॥९८॥

७. विख्यातं विजयावहं रणभुवि व्याप्तं शुभै र्लक्षणै-
स्तं चेन्मुञ्चति कानने नरपतिस्तुङ्गं महान्तं गजम् ।
अश्वत्थाम्रकपुण्ड्रकेक्षुकदरालीस्वाद्य वंशाकुरान्
स्वैरं तस्य मनोरमे विचरतः का नाम हानिर्वने ॥१०६॥

(ग) 'म२' प्रति (गवर्नमैण्ट ओ० मै० लाइब्रेरी, मद्रास) में अतिरिक्त श्लोक :

१. आमूलाग्रनिबद्ध कण्टकतनु र्निगन्धपुष्पोद्गम-
श्छाया न श्रमहारिणी न च फलं क्षुत्क्षामसन्तर्पणम् ।
बर्बूरद्रुम ! साधु सङ्गरहितस्तत्तावदास्तामहो
अन्येषामपि शाखिनां फलवतां गुप्त्यै वृति र्जायते ॥३६॥

२. कृष्णं वपु र्वहतु चुम्बतु सत्फलानि
शून्येषु सञ्चरतु चूतवनान्तरेषु ।
पुंस्कोकिलस्य चरितानि करोतु कामं
काकः कलध्वनिविधौ ननु काक एव ॥१०४॥

३. धीमन् ग्रस्त समस्तचेतनमनो वैदग्ध्यमुग्धो जनः
क: स्पर्धामधिरोहति त्रिभुवने चित्रं त्वया तन्वता ।
भावानां सदसद्विवेककलनाभ्यासेन जीर्णान्तरं
दूरादेव न नाम येन हृदयं सोढुं कुतो दुर्ग्रहः ॥१००॥

४. पृथक् समास्थेयमियं स्थिति नौं
नान्योऽन्यधामाक्रमणं विधेयम् ।
सरोरुहाणामिति कोशनालौ
समाश्रितौ श्रीगुणमण्डलाभ्याम् ॥२६॥

५. प्रेङ्खन्मयूखनखशतशिखानिखात-
विख्यातवारणगणस्य हरे र्गुहायाम् ।
क्रोष्टा निकृष्टसरयासुतदृष्टिनष्टो
धाष्ट्यात् प्रविष्ट इति कष्टमिहाद्य दृष्टम् ॥१०५॥

६. रणद्भिः किं भेकैः श्रुतिकुहर कीलायितरवै-
बंकै र्वा किं मूकैः परनिधननित्य व्यसिनिभिः ।
सरोराजख्याति . . . दिद . . . चिरं
कुरु स्नेहं हंसै र्मधुरविरुतै श्चारुचरितैः ॥२२॥

(घ) 'म²' प्रति (गवर्न० ओ० मै० लाइब्रेरी, मद्रास) में अतिरिक्त श्लोक तथा टीका :

१. आदाय—इत्यादि श्लोक ॥१०८॥

विविधोपायेन धनमर्जयित्वा लोभी तेन किञ्चिदपि पुरुषार्थं साधयितुम् अजानन्न एव व्यर्थयतीत्याह-आदायेति । अनेन परिदृश्यमानेन दुरर्णवेन कर्त्रा । अर्णवस्य दुष्टत्वं वक्ष्यमाणजलक्षारीकरणादिनेति द्रष्टव्यम् । परितः समन्तादादाय स्वीकृत्य किं नाम प्रशस्तं किं साधितशित्यत आह निःसरणे वक्त्रे प्रारम्भोपाययोरिति विश्वः । वारि सलिलम् । आह तु शब्दो व्यतिरेके । तज्जलक्षारीकृतं स्वसम्बद्धं लवणमर्घीकृतं बद्धम् । पातालस्य रसातलस्य कुक्षिरभ्यन्तरप्रदेशः । स एव विपदं रन्ध्रं तत्र विनिवेशितं स्थापितं च । अनुनापभोगानर्हं करोति राजादिभ्यो ददाति । अगाधे गर्ते निक्षिपति चेत्यर्थः । तत्र दुः । वस्तु वस्तु व्यज्यते ॥१०८॥

२. कटु रटति वाचाटः स्थिरः टिट्टिभको यत्र ।
तत्रापसरणं युक्तं मौनं वा राजहंसस्य ॥२४॥

यत्र मूर्खो बहु प्रलपति तत्र विदग्धेन तूष्णीमासितव्यम् । ततो वा गन्तव्यमित्याह— कटुरटतीति । वाचाटो मुखरः । टिट्टिभको यष्टिको भष्टिको निकटर्ती समीपवर्ती स्थिरो भूत्वा कटु रटति परुषं शब्नायते तत्र राजहंसस्यापसरणमपगमनमन्यतो गमनं मौनं वा युक्तमुचितम् । तदुत्तरं न प्रयोजनम् ॥२४॥

३. किं तेनेति ॥

दुष्टप्रभुसेवया सेवकस्याकैञ्चन्यं तदवस्थमेव भवति । सत्प्रभोः सेवया तु निःस्वेऽपि स्नेन समेक्रियत इत्याह—किं तेनेति । तेन तादृशेन सकलदेवताश्रयभूतेनेत्यर्थः । हेमगिरिणामेरुणा रजताद्रिणा कैलासेन वा किं न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः । तत्र हेतुमाह—यौ मेरुकैलासौ कर्मभूतावाश्रिताः परिप्राप्तास्तरवः शोभनाश्च तादृशाः शाखिनः त एव तरवो भवन्ति । स्वगुणपरिवृत्तिं न प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । किन्तु मलयमेव मलयाख्यमेव नगाधिराजं पर्वतोत्तमं मन्यामहे जानीमहे । मन्यते दैवादिकात् कर्तरि लट् तदेवोपपादयति । यस्माद् यदाश्रिताः शाखोटः निम्बकुटजा अपि शाखोटः खरपत्रतरुः । कर्णाटभाषायां मिटिलीति प्रसिद्धिः । निम्बः पिचुमन्दः । कुटजः शक्रतरुः । अपि शब्दात् खदिरादयो

गृह्यन्ते । चन्दनानि भवन्तीत्यर्थः । शाखोट श्शरपत्रश्च कर्कशः कठिनच्छदः इत्यष्टाङ्गनिघण्टः पिचुमन्देश्च निम्बोऽकूटजश्शक्र इत्यमरः ।

४. ग्रावाणो मणयो हरि र्जलचरो लक्ष्मीः पयोमानुषी
मुक्तौघाः सिकताः प्रवाललतिका शैवालम्भः सुधा ।
तीरे कल्पमहीरुहाः किमपरं नाम्नापि रत्नाकरो
दूरे कर्णरसायनं निकटतस्तृष्णाऽपिनो शाम्यति ।।१०६।।

विविधविभवातिसमृद्धो बन्धु र्देशान्तरे निवसतीति वार्ताश्रवणमनोज्ञं भवति । किं चौत्सुक्येन. . . को नाम पिपासामपि स किञ्चिन्न परिहरतीत्याह— ग्रावाण इति । यत्राम्भोधौ मणयो रत्नान्येव ग्रावाणः पाषाणाः हरिः विष्णु र्जलचरः सलिलवर्ती मत्स्यप्राय इति यावत् । लक्ष्मीः रमा तु पयोमानुषी जलवर्तिनी मनुष्यस्त्री खलु । मनुष्याकाराः प्राणिनः सञ्चरन्ति । मुक्तौघा मौक्तिकसङ्घा एव सिकता बालुका भवन्ति । प्रवाललतिका विद्रुमलता एव शैवाला भवन्ति अमृतमेव अम्भो जलं भवति । किञ्च तीरे वेलार्या कल्पमहीरुहः सन्ति । अपरमन्यत् किं न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः । अयमम्भोनिधि समुद्रः । नाम्ना अम्भोनिधिनामधेयेन करणेन दूरे विदेशे । कर्णरसायनं कर्णयोः श्रवणयोः रसायनम् । रसो वीर्यं बलातिशयः । ईयते प्राप्यते व्याध्यादिनिवर्तनाद नेनेति रसायनमोषधि विशेषः । रसायनं विहङ्गेऽपि जराव्याधिभिरोषधमिति विश्वः । रसायनं कर्णामृतं भवति । श्लाव्यगुणगणो भवतीति यावत् । निकटतः समीपे स्थितानाम् । सार्वविभक्तिकस्तसिल् । तृष्णा पिपासायि नो शाम्यति शान्ता भवति । समुद्र जलस्य क्षारतमत्वादित्यर्थः । शमे दैवादिकत्वात् कर्तरि लट् । शमामष्टानामित्यादिना दीर्घः ।।१०७।।

५. त्यक्तेति ।।१००।।

वदान्यात् सुलभं लाभमुत्सृज्य क्रूरं लोभिनं वा सेवमानो मूढ इत्याह— त्यक्तेति । हे भ्रमर मधुप । दुष्टोऽपि प्रतीयते । मुग्धो मूढस्त्वम् । मुग्धं सौम्ये नवे मूढे इति विश्वः । अनादरेणावज्ञया । अरविन्दमकरन्दं पद्मरागं त्यक्त्वा परिहृत्य । किञ्जल्क कल्कपरिधूसरितान्तरेषु किञ्जल्कः केसर एव कल्को मलम् । कल्कोऽस्त्री मलैनसोरित्यमरः । तेन परिधूसरितं परितो धूसरीकृतम् । अन्तरं मध्यं येषां ते तथोक्ताः । तेषु केतकीविकटसङ्कटेषु । केतक्या विकटं प्रभूतं सङ्कटं सम्बाधो येषां ते तथोक्ताः । सङ्कटं स्यात्तु सम्बाध इत्यमरः । तेषु कण्टकेषु गण्डलुब्धसौरस्यलोभी सन् मुधा व्यर्थमेव धावसि स्ञ्चरसि । हा हा शब्दो विषादे नहि मद्यपायिनो विवेकोऽस्तीति भावः ।।१००।।

भल्लटशतकीय श्लोकानुक्रमणिका

श्लोकानुक्रमणिका

Rs 16-00